भारत में प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी

भारत में
प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी
(कुछ पहलुओं का अध्ययन)

हँसमुख धीरजलाल संकालिया

पीपुल्स पब्लिशिग हाउस

मई १९९१

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रवर्तित

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित

मूल्य ३० रुपये

अनुवादक गीताराम राय

ISBN-81—7007—135—6

पी पी सी जोशी द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस रानी झांसी रोड, नयी दिल्ली से मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, ५ ई रानी झांसी रोड, नयी दिल्ली-५५ की तरफ से प्रकाशित ।

प्राक्कथन

(१९७० में प्रकाशित अंग्रेजी के मूल संस्करण से)

भारत के विज्ञानों के इतिहास-संकलन हेतु राष्ट्रीय आयोग का एक उद्देश्य भारत में विज्ञानों के इतिहास पर जब भी कोई अध्ययन तैयार हो, उन्हें शृंखला के रूप में, साथ ही स्वतंत्र विनिबन्धों के रूप में, प्रकाशित करना रहा है।

अक्तूबर १९६८ में दिल्ली में भारत में विज्ञानों के इतिहास पर एक सिम्पोजियम आयोजित किया गया था। जब इसकी कार्यवाहियां प्रकाशित की जा रही थीं, तब यह पता चला कि प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी के अध्ययन से सम्बन्धित योगदान में एक कमी रह गई है। तब राष्ट्रीय आयोग ने इस विषय पर एक विनिबंध के रूप में अपना योगदान करने हेतु प्रोफेसर एच डी सकालिया को आमंत्रित किया। प्रो सकालिया को भारतीय पुरातत्व के एक अधिकारी विद्वान के रूप में व्यापक मान्यता प्राप्त है और भारत के प्रागैतिहास और आद्यैतिहास पर तथा 'पाषाणयुगीन उपकरण उनकी तकनीकें व सम्भाव्य कार्य' (स्टोन एज टूल्स देयर टेक्नीक्स एंड प्रोबेबल फंक्शन) पर उनकी कुछ कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं। इस अवसर पर सम्पादक-मण्डल इस शृंखला में एक विनिबन्ध का योगदान करने के लिए प्रो सकालिया का आभार प्रकट करता है। यह विनिबन्ध आद्यैतिहासिक युग में प्रयुक्त तकनीकों पर विचार-विमर्श की दृष्टि से विशेष समृद्ध है। प्रागैतिहास और आद्यैतिहास की विभिन्न अवधियों के तिथि-निर्धारण की समस्या मुख्यत आद्यैतिहास की अवधि के लिए तो हाल में लागू की गई कार्बन तिथिकरण की पद्धति द्वारा काफी कुछ हल हो गयी है, पर प्रागैतिहासिक अवधि के मामले में इस तरह की तकनीक को लागू करना अभी सम्भव नहीं हो पाया है।

आदिपाषाण युग से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के उपकरणों का क्रम निर्धारित करने का प्रयास पुरातत्वविद किस प्रकार करते हैं, इसका विवरण बी और आर आलचिन ने हाल में पेंगुइन से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'भारतीय सभ्यता का जन्म' (दि बर्थ आफ इंडियन सिविलाइजेशन) में दिया है। भारतीय पुरातत्व का अध्ययन आरम्भ करने वाले उन पाठकों को, जो इस विनिबन्ध के अनुपूरक के रूप में कुछ और पढ़ना चाहें, आलचिन की पुस्तक पढ़ने की सलाह दी जा सकती है। यह आशा की जाती है कि प्रो सकालिया प्राचीन भारतीय पुरातत्व के विषय पर शृंखला में एक और भी विस्तृत विनिबन्ध का योगदान करने की स्वीकृति देंगे।

डी एम बोस

अनुक्रम

आमुख

प्रागितिहास, सही अर्थ में, लेखन-ज्ञान से पूर्व का इतिहास है, इसलिए ऐसे लिखित वृत्त नहीं मिल सकते जिनसे हम विभिन्न व्यवहृत तकनीकों के विषय में मानव-ज्ञान की जानकारी प्राप्त कर सकें। निस्सदेह, मिस्र, इराक और क्रीट में अति पुरातन काल के कुछ पुरालेख मिले हैं जो इतिहास और प्रागितिहास के सधिकाल के हैं। यद्यपि इन पुरालेखों में से अधिकाश तत्कालीन तकनीकों का पता लगाने हेतु बहुत उपयोगी नही हैं—क्योंकि ये मुख्यत विजय अभियानों के विवरण, विश्व-उत्पत्ति से सम्बधित पौराणिक आख्यान, अथवा मन्दिरों के विवरण हैं—, फिर भी इनमें से कुछ उपयोगी हो सकते हैं, मसलन घाव तथा दुर्घटना सम्बधी शल्य-चिकित्सा से सम्बधित विवरण। (वेस्टर्नडोर्फ, १९६६)।

भारत में हमें हड़प्पा अथवा सिन्धु सभ्यता की तथाकथित मुहरों के सक्षिप्त अभिलेख मात्र उपलब्ध हैं। इन्हें अभी तक पढ़ा नही जा सका है और इसलिए हमें नहीं मालूम कि इनमें कुम्हार, राजमिस्त्री ताम्रकार जैसे कारीगरों, अथवा किन्हीं तकनीकों का उल्लेख है भी या नही। शेष सामग्री विशुद्ध पुरातात्विक है।

किन्तु इसके अलावा एक अन्य स्रोत भी है—सर्वांगपूर्ण वैदिक साहित्य का स्रोत। ईसवी सन् के आरम्भ तक यह अलिखित था और इसकी जानकारी मौखिक रहती थी। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक साहित्य का पूरा नहीं तो, कम से कम बाद वाला काल आद्यैतिहासिक काल (१५०० ई पू) के अतर्गत आता है। अत क्या इस स्रोत का उपयोग नही होना चाहिए? मिस्र के पपीरस (पटरों) और सुमेर के टैब्लेट्स (फलकों) की तरह इस स्रोत का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन कठिनाई यह है कि तकनीकों की उचित जानकारी के लिए हमें वस्तु की ही नही, बल्कि उसके उपयोग की भी परिकल्पना होनी चाहिए। वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य में जो कुछ वर्णित है, उससे हम यह परिकल्पना नही कर सकते। हम यह भी निश्चित रूप से नही कह सकते कि प्रयुक्त सामग्री क्या है—ताम्बा है या लोहा। इसलिए हमें श्रेडर के रियल लेग्जीकोन (वास्तविक शब्दकोष) (१९१७ १९२३, १९२९) तथा मैक्डोनेल और कीथ के वैदिक इन्डैक्स (वैदिक अनुक्रमणिका) (१९१२) से ही सतोष करना पड़ता है। इन रचनाओं पर दृष्टि डालते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में—उसका ठीक-ठीक काल कुछ भी हो—शिल्पी-अभियता, राजमिस्त्री, बढई, लुहार, जुलाहे, सूतकातक, रगरेज और कुम्हार का अस्तित्व था। ताम्बे और लोहे दोनों

का उल्लेख आया है तथा ताम्बे/कासे और लोहे, चादी और सोने को गलाने से सम्बधित शब्द भी उपलब्ध हैं। स्केडर ने, बेशक, हसिया, तलवार, मृद्भाण्ड, चौपहिया गाड़ी और आवास जैसी कतिपय कुछ चीजों के दृष्टात दिये हैं, किन्तु निश्चित साक्ष्य के अभाव में हम यह भी नहीं कर सकते। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि अब तक हम किसी वास-स्थल की पहचान वैदिक वास-स्थल के रूप में कर पाने में, और उसकी अतर्वस्तु के अध्ययन से वैदिक काल में प्रचलित तकनीकों के बारे में कुछ कह पाने में असमर्थ रहे हैं।

इन परिस्थितियों में हमें केवल पुरातात्विक साक्ष्यों पर ही निर्भर करना होगा। और यहा भी हमारा विवरण अपेक्षित रूप से सागोपाग और विस्तृत नहीं हो सकता। इस दिशा में हमें काफी दूर तक जाना है। अब तक लोह अथवा ताम्र-कास्य प्रौद्योगिकी को निर्धारित करने के सम्बध में बहुत थोड़ा काम हुआ है। इसीलिए ताम्र-आसचयों से प्राप्त वस्तुओं, साथ ही दक्षिण भारत के महाश्मों (मैगलिथ्स) को नमूनों के बतौर प्रस्तुत किया जाता है—ऐसे नमूने जिन्हें वैज्ञानिक परीक्षण से अपवित्र नही किया जा सकता !! और न ही ताम्र और लौह वस्तुओं का खनिज पदार्थों (अयस्कों) से, और पालिशदार प्रस्तर-उपकरणों का चट्टानों से सम्बध स्थापित किया जा सका है। यहा तक कि कतिपय प्रकार के उपकरणों और हथियारों पर विचार करने के अतिरिक्त हमारा ज्ञान कतिपय उपकरणों के प्रकारों और इन प्रकारो द्वारा सुझाये गये सादृश्यमूलक सम्बधों के दायरे से बाहर नहीं जा पाता। यही बात मृद्भाण्डों के बारे में भी सच है, जो भारत में किसी भी उत्खनन से सर्वाधिक प्रचुर मात्रा में प्राप्त प्रागैतिहासिक सामग्री है। इन परिस्थितियों में अब तक ज्ञात वस्तुओं की विभिन्न कोटियों का उल्लेख भर किया जा सकता है और तकनीकों के विषय में जो कुछ भी उपलब्ध है उसका सक्षिप्त विवरण भर दिया जा सकता है।

सिन्धु अथवा हड़प्पा सभ्यता के लोगों द्वारा प्रयुक्त विभिन्न तकनीकों का उस समय उपलब्ध साक्ष्यों व रसायनविदों और धातुविज्ञानियों द्वारा किये गये वैज्ञानिक परीक्षणों से, मैके ने सराहनीय रूप से अच्छा अनुमान लगाया है, मैंने विवरण स्वय मैके के शब्दों में प्रस्तुत किया है। प्रथमत इसलिए कि मैके ने अत्यत सावधानीपूर्ण अध्ययन के बाद इसे लिखा है। दूसरे इसलिए कि मुझे इस सभ्यता की खोजों का अध्ययन करने का प्रत्यक्ष अवसर नही मिला (बहुत पहले १९३६ में एक छोटी-सी अवधि को छोड़कर) और कुछ इसलिए भी कि मूल वस्तुओं की अनुपस्थिति में और आगे वैज्ञानिक प्रयोग करने का कोई अवसर भी न था। तथापि, जहा भी सम्भव हो सका है इस विवरण तथा अन्य विवरणों को हाल के उत्खननों से प्राप्त अतिरिक्त ज्ञान से युक्त करके, अधुनातन बनाया गया है।

इस विनिबन्ध के लिए मैंने सिन्धु सभ्यता से प्राप्त वस्तुओं की विभिन्न कोटियों के सम्बध में, मैके के विवरण को ही सार रूप में प्रस्तुत किया है।

मृद्भाण्ड के अध्ययन के लिए, मेरे सहकर्मी डा जी जी मजूमदार ने

कुछ वैज्ञानिक परीक्षण किये हैं और इन्हें प्रासंगिक अनुभागों में सम्मिलित किया गया है। अहाड़ में एक चूल्हे से ताम्र धातुमल के मिलने और डा के एन टी हेज द्वारा इसके पूर्ण अध्ययन से ताम्र-कांस्य प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध में कुछ और साक्ष्य उपलब्ध हुआ है। ऐसा ही अध्ययन लोथल से प्राप्त धातुमल के सम्बध में किया जाना चाहिए था। डा डी पी अग्रवाल के अध्ययनों से और भी अभ्यर्थित आकड़े प्राप्त हुए हैं। अपनी अभी भी अप्रकाशित कृतियों के प्रयोग की अनुमति देने के लिए मैं इन विद्वानों का अत्यत आभारी हू।

विषयवस्तु का विभाजन

प्रागैतिहासिक काल को मोटे तौर पर दो मुख्य कालों में विभाजित किया गया है।

१ प्रागैतिहासिक २,००,००० ई पू से ३,००० ई पू तक

२ आद्यैतिहासिक ३,००० ई पू से ५०० ई पू तक

१ प्रागैतिहासिक अवधि के अतर्गत तीन अथवा चार पाषाण युग सम्मिलित हैं—(क) प्रारम्भिक पाषाण युग, (ख) मध्य पाषाण युग और (ग) उत्तर पाषाण युग।

आद्यैतिहासिक काल के अतर्गत नव पाषाण युगीन, ताम्र-पाषाण युगीन और कास्य युगीन सस्कृतिया तथा ५०० ई पू तक का प्रारम्भिक लौह युग सम्मिलित है।

तकनीको के प्रस्तुतीकरण में, विषय-निरूपण अथवा पद्धति की बाबत दो शब्द और कह दू। मात्र तकनीकों का उल्लेख करने की बजाय, प्रत्येक स्थान पर उन वस्तुओं का भी उल्लेख किया गया है, जिनका अध्ययन तकनीकों की ओर इगित करता है। कारण यह है कि विभिन्न स्तरों के हमारे विद्यार्थियों को अब तक केवल सिन्धु सभ्यता के सामान्य लक्षणों के बारे में ही बताया जाता रहा है, स्नातकोत्तर स्तर तक के हमारे विद्यार्थी उन कारणों के बारे में नही जानते थे जिनसे ये निष्कर्ष उत्प्रेरित हैं। इस प्रकार प्रौद्योगिकी का हमारा ज्ञान अत्यत अल्प है। यह आशा की जाती है कि यहा जो पद्धति अपनायी गयी है उससे आम विद्यार्थियों को और रसायनविदों, भौतिकविदों तथा अन्य विशेषज्ञों को भी अधिक विस्तृत अध्ययन करने हेतु प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

एच डी सकालिया

१

प्रागैतिहासिक काल की तकनीकें

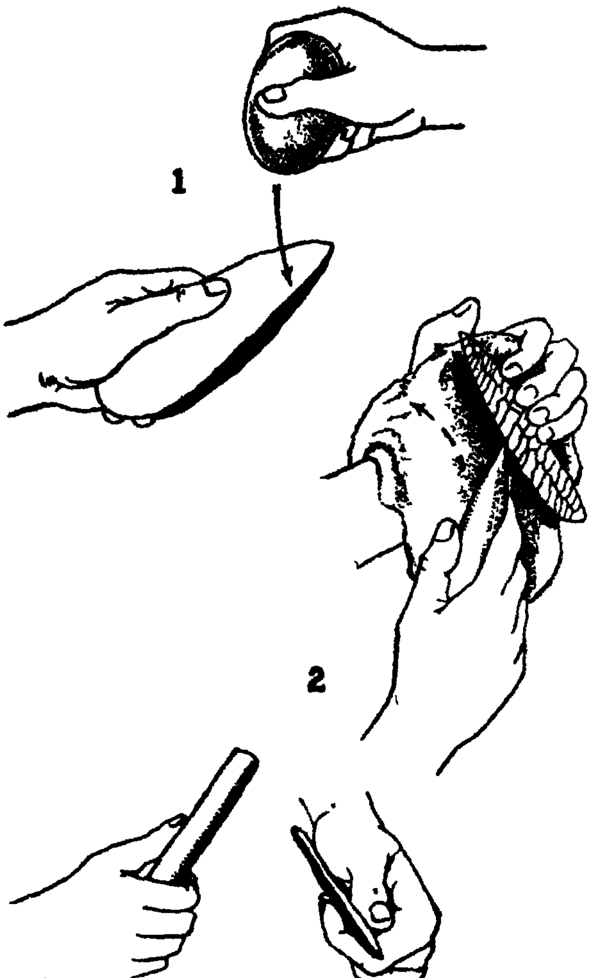
पाषाण युग मे प्रचलित तकनीको का मैंने अन्यत्र विस्तार से वर्णन किया है तथा उनके दृष्टान्त भी दिये है (सकालिया, १९६४)। यहा यह उल्लेखनीय है कि ये तकनीकें किसी भी तरह विश्व की, खासकर पुरातन विश्व की, अन्यत्र ज्ञात तकनीको से भिन्न नही हैं। यही नही, कालक्रमानुसार इनका विकास अन्यत्र दृष्टिगोचर विकास से भिन्न नही है, यद्यपि वर्गीकरण की दृष्टि से ही यह सत्य है, न कि देशकाल के अनुसार, अर्थात कोई आवश्यक नही कि एक ही तकनीक—उदाहरणार्थ निहाई-हथौडा अथवा प्रस्तर-हथौडा तकनीक, जो यद्यपि भारत, साथ ही अफ्रीका और यूरोप मे भी प्राचीनतम है—सर्वत्र एक ही युग की हो।

क निहाई-हथौड़ा तथा प्रस्तर-हथौड़ा तकनीक

यद्यपि भारत मे प्रस्तर उपकरणो के फलकीकरण मे हमारे सामने अत्यन्त स्पष्ट स्तरीकरण सम्बन्धी विकास उपलब्ध नही है, तथापि प्रस्तर-हथौडा और निहाई-हथौडा तकनीक सबसे पुरातन तथा सर्वाधिक प्रचलित थी। निहाई-हथौडा तकनीक नर्वदा के मध्य होशगाबाद और माहेश्वर मे, तथा सोहन, सिन्धु तथा बनगगा की घाटियो मे, पूर्वी तथा पश्चिमी पजाब मे तथा कश्मीर स्थित लिद्दर घाटी मे अच्छी तरह देखी जाती है। तीव्र उभारयुक्त बडे-बडे फलक सभवतया एक बडे शिलाखड के दूसरे शिलाखड पर आघात का परिणाम होते थे। इनका युग मध्य प्रातिनूतन युग से पूर्व का है।

ख प्रस्तर-हथौडा तकनीक

प्रस्तर-हथौडा तकनीक मे, कारीगर एक गोल अथवा अण्डाकार प्रस्तर-खण्ड ले कर, उससे बायें या दाहिने हाथ मे रखे दूसरे प्रस्तर-खण्ड की परिधि पर आघात करता था। यह क्रम बहुधा एकान्तर पार्श्वों पर आघात करते हुए तब तक जारी रखा जाता था जब तक वांछित तीक्ष्ण तिर्यक किनारा नही निकल जाता था (चित्र-१, १)।



चित्र-१

१ हथौड़ा-पत्थर अथवा प्रत्यक्ष आघात द्वारा फलकीकरण।

२ नुकीले उपकरण द्वारा दबाव फलकीकरण।

३ बेलनाकार-हथौड़ा अथवा मुलायम हथौड़ा तकनीक।

(बोर्डेस, दि ओल्ड स्टोन एज, पृ २५ के अनुसार)

ग नियन्त्रित अथवा सोपान-पद्धति तकनीक

इसके बाद फलकीकरण की नियन्त्रित अथवा सोपान-पद्धति आती है। सक्षिप्तत, इसमे फलक-चिन्ह् अपेक्षाकृत छोटे, छिछले होते है तथा सोपान-सदृश चिन्ह् छोड जाते हैं, क्योंकि आघात गहरे नही होते और उपकरण के प्रमुख भाग के विपरीत पडते हैं। अनेक हस्त-कुठारो (हैण्ड एक्सो) तथा क्लीवरो (फाड़नेवाले औजारो) का अनुदैर्घ्य पार्श्व इसी प्रकार छटा हुआ मिलता है।

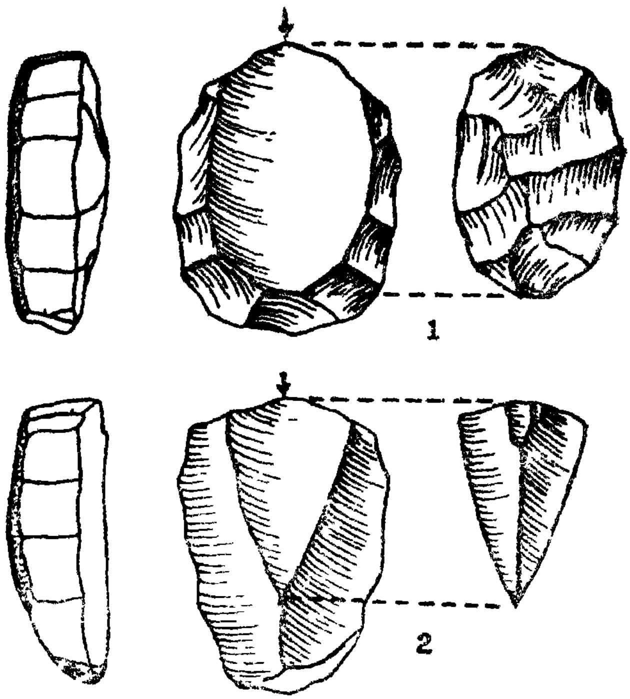
घ बेलनाकार-हथौडा तकनीक

कदाचित इसके कुछ समय बाद ही बेलनाकार-हथौडा तकनीक का विकास हुआ। यह हथौडा हड्डी, लकडी अथवा पत्थर का हो सकता था। लेकिन वास्तविक प्रयोगो के द्वारा यह दिखाया गया है कि ऐसी तकनीक से हस्त-कुठारो की सतह को सपाट और सममित बनाया जा सकता है। इनके सर्वप्रथम फ्रास के सेंत आशूल मे प्राप्त होने के कारण इस तकनीक को आशूलियन के नाम से जाना जाता है। इसमे फलक-चिन्ह् बहुत छिछले और छोटे होते है (चित्र-१, ३)।

ङ निर्मित कोर तथा धरातल तकनीक

इसके बाद एक बहुत ही उत्तम कोटि की तकनीक का प्रादुर्भाव हुआ। यह तकनीक निर्मित कोर तथा धरातल तकनीक अथवा, फ्रास मे इस प्रकार की तकनीक के प्राप्ति-स्थान के नाम पर, लेवालायसियन तकनीक कहलाती है। यह तकनीक निश्चय ही न्यूनाधिक रूप मे सम्पूर्ण भारत मे प्रारम्भिक पाषाण युग के अन्तिम चरण तथा सम्पूण मध्य पाषाण युग मे व्यवहृत थी, यद्यपि इसका व्यवहार कुछ कारणोवश विरल दीख पडता है।

इस तकनीक मे सावधानीपूर्वक कोर पर काम करके तथा आघात-स्थल बनाकर एक ही, अपेक्षाकृत पतला, गोल, अण्डाकार अथवा तिकोना फलक निकाला जाता था। यह आघात सामान्यत ९०° के कोण पर किया जाता था (यहा इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि निर्मित धरातल लेवालायस तकनीक के प्रयोग के अनुमान की कसौटी नही है)। फलस्वरूप, एक बारीक, सुडौल तथा यथेष्ट पतला फलक निकल आता था। इसे पुन सवारने की आवश्यकता नही पडती थी। यहा यह जोर दे कर कहा जा सकता है कि सभी फलकों तथा कोरो मे ये सभी विशिष्ट लक्षण नही दीख पडते, न ही फ्रास के लेवालायस पेरेट नामक आदर्श स्थल के मामले मे ऐसी बात है। उपलब्ध कोर कछुए के कवच, खासकर उसकी पीठ, की तरह दीख पडती है। इसलिए इसका नाम 'कच्छप-कोर' (टोरटोइज कोर) पडा है (चित्र-२, १-२)।



चित्र-२

१ लेवालायस फलक-कोर, पार्श्व मे फलक के साथ ।
(बोर्डेस, दि ओल्ड स्टोन एज, पृ ३० के अनुसार)
२ लेवालायस नोके निकालने के लिए विशिष्ट लेवालायस-कोर।

ब ब्लेड-फलक, दबाव तथा उन्नत कटक (क्रेस्टेड रिज) तकनीक

ये तकनीके एक अर्थ मे परस्पर सम्बन्धित है, क्योकि इनका मुख्य उद्देश्य एक पतला फलक निकालना था जिसकी लम्बाई चौडाई मे अधिक होती थी और जो ब्लेड कहलाता था। तथापि, प्रचलन मे हम न केवल ब्लेडो के विभिन्न प्रकारो के, बल्कि उनके निर्माण मे प्रयुक्त तकनीको के अन्तर को भी दिखला सकते है।

सम्भवत, सर्वप्रथम अन्वेषित तकनीक ब्लेड-फलक ही थी। सामान्यत, ब्लेड फलक न्यूनाधिक समानान्तर किनारो से युक्त लम्बा तथा अपेक्षाकृत सकीर्ण होता था। ऐसे ब्लेड-फलक कभी कभी प्रारम्भिक तथा मध्य पाषाण-

युगीन सस्कृतियो मे पाये जाते हैं, लेकिन उच्च पुरा पाषाण-युगीन सस्कृति अथवा सच्ची ब्लेड-फलक सस्कृतियो मे ये नियमित रूप से प्राप्त होते हैं। ऐसा माना जाता है कि इसी युग मे ब्लेड-फलक प्राप्त करने की उचित तकनीक का पता लगा था।

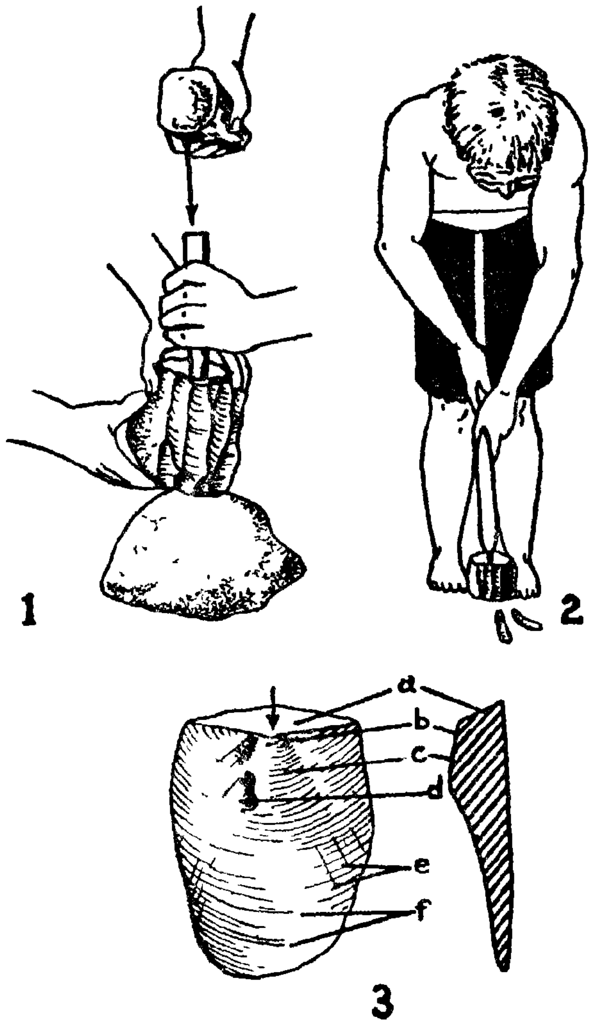
समानान्तर किनारो से युक्त ऐसे लम्बे तथा कम चौडे फलक प्राप्त करने के लिए जिस तकनीक का प्रयोग होता था वह इस प्रकार है

सर्वप्रथम चकमक-ग्रन्थि अथवा चकमक के समान बिल्लौर जैसे सूक्ष्म कणवाले पत्थर को, ब्लेड-फलक कोर के लिए उपयुक्त चिपटा आघात-स्थल बनाने के उद्देश्य से, दो बराबर भागो मे तोड दिया जाता है। टूटे हुए आधे भाग की सतह यथासम्भव समतल होनी चाहिए, जहा निषेधात्मक सघात-अर्ध-शकु का खोखलापन न रहे। आजकल इसे प्रस्तर-अथवा प्रस्तर-ग्रन्थि का विभाजन कहते हैं।

इसके बाद ब्लेड-फलक निकालने के लिए कोर-निर्माण की क्रिया प्रारम्भ होती है। विभाजित खण्डक को (चिकनी सतहयुक्त प्रस्तर-ग्रन्थि के अर्ध को), आघात-स्थल को ऊपर की ओर तिरछा किये हुए, घुटने से थामा जाता है।

तत्पश्चात् एक लघु हथौडा-पत्थर से उस बिन्दु के ठीक ऊपर, जहा खडक घुटने पर थमा होता है, किनारे-किनारे धीरे-धीरे हल्की चोट की जाती है। प्रत्येक चोट के साथ कोर को, घुटने के प्रतिकूल दबाव बिन्दु को बदलते हुए, पीछे की ओर भुकाया जाता है, ताकि छीलने का प्रभाव उत्पन्न हो। चोटें आघात-स्थल की सतह पर लगभग ४५° के कोण पर होनी चाहिए। प्रत्येक फलक निकालने के बाद खण्डक को अपनी धुरी पर (आघात-स्थल को सदैव समान दिशा मे रखते हुए) थोडा घुमा दिया जाता है ताकि कोर के सभी किनारो से एक के बाद एक फलक निकाले जा सकें। इस प्रकार खण्डक के ऊपर की असमाकृतिया दूर कर दी जाती है, तथा चूकि सभी फलक एक ही दिशा मे निकाले जाते हैं, इसलिए समानान्तर निषेधात्मक फलक-चिन्हो के कारण एक धारीदार आकृति निकल आती है।

इस प्रकार कोर की सम्पूर्ण परिधि बन जाने के बाद यह ब्लेड-फलक निकालने के योग्य हो जाता है। इसकी प्राप्ति हेतु इसे उसी तरह पकड कर रखा जाता है, जैसे प्रारम्भिक काट-छाट के समय रखा गया था। तथापि, अब प्रत्येक चोट दो पूर्ववर्ती निषेधात्मक फलक-चिन्हो के कटान पर मारी जाती है ताकि उनके कटान द्वारा निर्मित कटक कटे हुए फलक पर न्यूनाधिक केन्द्रीय कील (keel) बनाये। भिन्न रूप मे, ऐसा प्रहार भी किया जा सकता है जिससे एक चौडा ब्लेड-फलक, जिसके ऊपरी भाग पर दोनो समानान्तर कीलें हो, निकल जाये। (सिंगर तथा अन्य, १९५६, पृ. १३४-३६ मे लीकी)।



चित्र-२

१ ब्लेड प्राप्त करने के लि। अप्रत्यक्ष आघात तकनीक।

२ ब्लेड प्राप्त करने के लिए छाती-दाब तकनीक।

३ फलक के निचले भाग के लक्षण
ए आघात-स्थल बी आघात-शंकु सी आघात-अध-शंकु डी. खपची (स्प्लिन्टर) इ धारी-चिह्न (स्ट्रिएशन) एफ. ऊबड़-खाबड़ जिसकी अवतलता सदा आघात-शंकु की ओर रहती है। (बोर्डस के अनुसार)

लीकी द्वारा वर्णित पद्धति का व्यवहार अभी भी ब्राडन (इंगलैंड) तथा टर्की के चकमक मजदूर करते हैं। सम्भवतः, यह भारत तथा पश्चिमी एशिया के ताम्र-पाषाण युगीन लोगो द्वारा प्रयोग मे लायी गयी प्रमुख तकनीकों मे से एक थी, क्योकि काफी सख्या मे प्राप्त कोरो मे से केवल कुछ मे ही उन्नत कटक दीख पडता है (नीचे देखें), जबकि अन्य मे जैसा कि लीकी ने दर्शाया है, चतुर्दिक फलकीकरण पाया जाता है। दूसरे, इन सभी स्थलो मे, खासकर नवदाटोली तथा इनामगाव मे, लेखक ने अनेक चपटे रोडे देखे हैं जिनका व्यवहार हथौडा-प्रस्तरो के रूप मे होता होगा, क्योकि उनमे से प्रत्येक के एक अथवा दोनो छोरो पर अथवा कभी-कभी परिधि के चारो ओर, गड्ढे हैं। ये गड्ढे, स्पष्टतः सिक्थ स्फटिक (केलसेडोनी) पिंड पर धीरे-धीरे प्रहार करने के फलस्वरूप बनते थे।

फ्रान्सीसी विद्वानों द्वारा प्रयुक्त पद्धति मे छोटे-आघात-स्थल युक्त कोर के ऊपर लकडी की छोटी छेनी रखकर हथौडे से प्रहार किया जाता था। (विस्तार के लिए सकालिया, १९६४, पृ ३८ देखें) (चित्र ३, १)।

छ उन्नत कटक (क्रेस्टेड रिज) तकनीक

ऐसे ब्लेड-फलक ताम्र-पाषाण तथा कास्ययुगीन सस्कृतियो मे "उन्नत कटक अथवा मार्गदर्शक फलक" तकनीक द्वारा निकाले जाते थे। इस तकनीक मे सभी असमाकृतिया, अथवा जो कुछ भी सिक्थ स्फटिक पिंड के ऊपर से आसानी से निकाला जा सकता था उसे, सर्वप्रथम पत्थर के गोल हथौडे से निकाल दिया जाता था। तत्पश्चात्, एकान्तर फलकीकरण द्वारा निर्मित कोर की लम्बाई मे एक कटक निर्मित किया जाता था। माना जाता है कि यह कटक या तो समानान्तर फलको के नियमित पृथक्करण के लिए मार्गदर्शक होता है अथवा यह अशक्तता की एक ऐसी रेखा बनाता है जो फलकों की प्रथम शृखला के पृथक्करण को आसान बना देती थी।

ऐसे उन्नत कटक फलक तथा कटक युक्त कोरें हडप्पा तथा उत्तर ताम्र-पाषाण सस्कृतियो मे मिलती हैं। और यह माना जाता है कि ब्लेडो के बडे पैमाने पर उत्पादन के लिए यह बहुत सुविधाजनक तकनीक थी (सकालिया तथा अन्य, १९५८ मे सुब्बा राव)।

ज दबाव-फलक तकनीक

पतले, लम्बे तथा क्षीण ब्लेड दबाव तकनीक द्वारा भी निकाले जाते थे। इसका वर्णन लेखक ने अन्यत्र विस्तारपूर्वक किया है (सकालिया, १९६४, पृ ३४-४७) (चित्र-३, २)।

एक अन्य पद्धति भी अस्तित्व मे थी। मानव ने उस तकनीक का आविष्कार कर लिया था जिसे लीकी 'दाब विरचक उपकरण' ('प्रैशर फेब्रिकेटर') कहते हैं। इसकी आकृति मे कोई विशिष्टता नही थी, बल्कि एक रुक्ष फलक होता था जिस पर कहीं-कही मोटा, कुछ-कुछ आयताकार किनारा रहता था। विरचक उपकरण को एक हाथ से पकडकर और इसके छोर को ब्लेड की कूद की जानेवाली धार के विरुद्ध रखते हुए तथा दबाव देते हुए, छोटे-छोटे फलक बडी तेजी से निकाले जा सकते थे और ब्लेड के टूटने का लगभग कोई खतरा नहीं रहता था।

पुन, एक प्रकार के दबाव-फलकीकरण द्वारा काट-छाट कर बरछे तथा बाण के सिरे बनाने के लिए बहुत पतले, सपाट फलक ब्लेड की सतह से निकाले जाते थे। लेखक ने ऐसी दो पद्धतियो का वर्णन किया है जिनसे इस प्रकार के दबाव-फलकीकरण किये जाते थे (सकालिया, १९६४)।

अन्तत, लीकी के अनुसार अर्धचान्द्रिक अथवा छोटे नवचन्द्राकार पत्थर के ब्लेड बनाने के लिए एक प्रकार के विरचक उपकरण का आविष्कार किया गया जिसे लेम ए सैली ए कहते हैं। कुछ ही बार प्रयोग के बाद इस उपकरण द्वारा छोटे-छोटे फलको की एक पूर्ण शृखला एक ही साथ निकाली जा सकती थी, जिससे सकीर्ण फलक को अर्धचान्द्रिक मे परिवर्तित किया जा सकता था।

झ घर्षण तथा पालिश तकनीक

अन्त मे हमे 'घर्षण तथा पालिश' नामक तकनीक मिलती है। इसमे रोडे अथवा प्रस्तर-खण्डक, यदि सम्भव हो तो डाइक बेसाल्ट अथवा डॉयराइट मे से सर्वप्रथम प्रस्तर-हथौडे से, और यदि आवश्यक हुआ तो नियन्त्रित तथा दबाव तकनीक द्वारा भी, फलक निकाले जाते थे। इससे पर्याप्त समतल सतह उपलब्ध हो जाती थी। तत्पश्चात् छेनी जैसे उपकरण द्वारा खुरदरी सतह को सपाट बनाया जाता था। पुन, इस अधूरे उपकरण को नाव के आकार के बलुआ पत्थर अथवा खुरदरी सतह वाली सिल पर थोडा-सा पानी तथा अपघर्षक सामग्री डालकर रगडा जाता था, यद्यपि सतह खुरदरी रहने पर अपघर्षको की कोई आवश्यकता नही पडती थी। धीरे-धीरे सतह चिकनी हो जाती थी। चूकि इस युग मे मानव खासकर किनारे वाले भाग (धार) पर अधिक ध्यान देता था, इसलिए इस भाग को पुन तब तक रगडा जाता था जब तक वह पूरी तरह चिकना न हो जाता, और कदाचित् किसी तैलीय पदार्थ के योग से सतह को चमकीला बनाया जाता था। इस प्रकार, नव-पाषाण युग मे नुकीले कुन्दे वाली कुल्हाडिया (अथवा सेल्ट), छेनिया तथा दूसरे लकडी काटने वाले उपकरण बनाये जाते थे। भारत में इस तकनीक के प्रमुख क्षेत्र

आन्ध्र, मैसूर तथा मद्रास थे, फिर दक्षिण-पूर्वी उत्तर प्रदेश, असम तथा कश्मीर के अन्तर्गत बुर्जहोम बने, तथा अब यह पूर्वी तथा पश्चिमी पंजाब के अनेक स्थलों मे पायी जाती है। पजाब मे प्रयुक्त पत्थर उतना कठोर नही है जितना दक्षिण मे प्रयुक्त पत्थर।

पूर्वी भारत मे, खासकर असम मे, कन्धेदार कुल्हाडिया तार काटकर बनायी जाती थी (दानी, १९६०)।

२

आद्यैतिहासिक काल की तकनीके

क मृद्भाण्ड

यह भारत के किसी भी उत्खनन मे प्रचुरता से पायी जाने वाली वस्तु है। यद्यपि बहुत-से मामलो मे अब तक विस्तृत अध्ययन नही हो पाये है, तथापि मृद्भाण्ड के निर्माण के अन्तर्गत निम्नलिखित पद्धतियो अथवा तकनीको का अनुमान लगाया गया है

१ हस्तनिर्मित

(१) (क) टोकरी, अथवा (ख) बर्तन, मे ढला हुआ।

(२) कुडलित।

२ अशत हस्तनिर्मित तथा अशत चाकनिर्मित।

३ वर्तन-स्थाम (टर्न-टेबल) निर्मित।

४ चाकनिर्मित।

पुरातत्वविदो मे एक प्रवृत्ति यह है कि वे हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड को पहले का तथा चाकनिर्मित को बाद का मानते है। यह परिकल्पना साधारणत सत्य है यद्यपि यहा जोर इस बात पर देना आवश्यक है कि यह कोई सामान्य नियम नही है, क्योकि यह बर्तन के आकार तथा कार्य पर भी निर्भर करता है। सचय-पात्रो जैसे बहुत बडे-बडे बर्तन बहुधा कुडलन तथा साथ ही वलय-तकनीक द्वारा हाथ से बनाये जाते थे। इसी प्रकार, साधारण व्यवहार मे आने वाले अथवा किसी प्रकार के विशिष्ट कार्य वाले अन्य पात्र भी हाथ से बनाये जाते थे। अत कोई आवश्यक नही कि सभी हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड पहले के ही हो। प्रत्येक क्षेत्र का अलग-अलग विवरण देने से पूर्व निम्नलिखित विषयो का परिचय आवश्यक है

१ दो प्रकार के चाक,

२ मिट्टी की तैयारी, तथा

३ प्रदहन (आग मे पकाना)।

(क) कुम्हार का चाक (हस्तचालित)

भारत मे कुम्हार का हस्तचालित चाक कुछ-कुछ बैलगाडी के पहिये से मिलता-जुलता है। यह लकडी का बना होता है तथा इसकी नेमि को सतुलन हेतु मिट्टी से यथेष्टत पोत दिया जाता है। चाक की ऊपरी सतह का मध्य भाग सपाट होता है ताकि उस पर मिट्टी रखी जा सके। निचली सतह के केन्द्र मे प्राय एक कठोर पत्थर लगा रहता है जिसका मध्य थोडा गहरा होता है जो लकडी की चूल को थामे रहता है। चाक जमीन से कुछ इचो की ऊचाई पर घूमता है और अरो के बीच छडी घुमा कर इसे गति मे लाया जाता है। समुचित रूप से सतुलित चाक बहुत कम डगमगाता है, लेकिन इसके लिए बडी सावधानी की आवश्यकता होती है।

आदिकालीन कुम्हार का चाक सिर्फ लकडी का गोल खण्ड होता था, जिसमे चूल के लिए नीचे मे छेद बना रहता था। इसे तेजी से नही नचाया जाता था, बल्कि एक हाथ से घुमाते हुए दूसरे हाथ से मिटटी को सभाला जाता था।

(ख) पगचालित चाक

मोहेंनजोदडो के सभी मृद्भाण्ड चाक पर बने हुए है। मैके का विचार है कि आकारो की समानता तथा धारी-चिह्नो की नियमितता को देखते हुए, इनका निर्माण पगचालित चाक पर हुआ होगा (जो हाथ वाले चाक से तेज घूमता है)।

पगचालित चाक आजकल सिन्ध, बलूचिस्तान तथा पजाब तक ही सीमित हे और सभव है कि हडप्पा के लोगो ने ही इसका आरम्भ किया हो। इसके अतिरिक्त, यह पगचालित चाक, अपने ढाचे मे, बेहरिन द्वीप समूह, इराक, सीरिया, फिलिस्तीन तथा मिस्र मे व्यवहृत चाक के समान हे।

पगचालित चाक कुम्हार का असली चाक माना जाता है। लेकिन यह सचमुच मे आश्चर्य की बात है कि यह सिन्ध और पजाब के बाहर वस्तुत अज्ञात हे, यद्यपि जैसा कि मैके ने दिखलाया है, हाथ से चलाये जाने वाले चाक की अपेक्षा इसके अनेक लाभ हैं। हस्तचालित चाक बहुत भारी होता है, गति की विषमता को रोकने के लिए इसका व्यास अपेक्षाकृत बडा होता है जो कुम्हार के लिए केन्द्र मे रखी मिट्टी के निकट जाने मे बाधा उत्पन्न करता है। तीसरे, चाक को सतत गतिशील रखना पडता है और इसकी गति को नियमित रखना कठिन होता है। मैके स्वीकार करते है कि "इन असुविधाओ के बावजूद, भारतीय कुम्हार सराहनीय कृतियो का निर्माण कर सकता है तथा करता है।"

बारीक घोटी हुई मिट्टी का बना बर्तन चिकना, बनावट मे समरूप, अशुद्धियो से रहित तथा उतनी ही अच्छी तरह प्रदहन-योग्य होता है। लेकिन ऐसी मिट्टी सदा उपलब्ध नही होती, क्योकि यह मिट्टी के स्रोत पर निर्भर करता है, और स्रोत धरातल-भौमिकी से नियत्रित होते हैं। आगे यह बतलाया जायगा कि सिधु-गगा के क्षेत्रो से प्राप्त मिट्टी का बर्तन, नदी के महीन जलोढ़क के कारण, दक्षिण भारत मे प्राप्त मिट्टी के बर्तनों से सामान्यत अधिक उत्कृष्ट है (और ऐसा अभी भी होता है)। तथा यहा भी अच्छे कुम्हार उन तालाबो की मिट्टी का चुनाव करते है, जहा महीन मिट्टी नीचे बैठी होती है। इसी क्षेत्र मे मिट्टी के बर्तन बनाने तथा पकाने की कला उत्तमता की उच्च कोटि पर पहुची थी, और बाद के विकास द्वारा हुई समुन्नतियो के कारण आज तक वैसी है।

बर्तन को अच्छी तरह से पकाना भी दो कारको पर निर्भर करता है

(१) भट्ठे का प्रकार, तथा

(२) ईंधन की सुलभता तथा प्रकृति।

ऐसा मालूम पडता है कि इन दोनो मामलो मे सिन्धु-गगा के क्षेत्र ने पर्याप्त प्रगति की थी तथा सौभाग्य से हमारे पास मोहेंजोदडो एव लोथल से प्राप्त सिन्धु अथवा हड़प्पा सभ्यता के भट्ठो के कतिपय अवशेष हैं। इस प्रकार हम लोग जानते हैं कि ऐसे उत्तम एव समरूपत पके मिट्टी के बर्तनो का निर्माण कैसे होता था (यद्यपि मैके को आधुनिक सिन्ध मे बिना भट्ठे के इतने ही अच्छे परिणाम देखने को मिले हैं)।

इस प्रस्तावना के साथ हम यहा इस उपमहाद्वीप के प्रत्येक प्रमुख क्षेत्र के अन्तर्गत मृद्भाण्ड तकनीको के विकास की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। हम भारत-पाकिस्तान को सम्पूर्णत नही ले सकते। अनेक कारणो से इस समस्त उपमहाद्वीप मे समरूप विकास नही हुआ।

बलूचिस्तान

(१) मृद्भाण्ड कला। आद्यतम मृद्भाण्ड कला (लगभग ४००० ई पू)। टोकरी के साचे अथवा वलय या कुडलन पद्धति द्वारा हस्तनिर्मित।

के जी मोहम्मद द्वितीय, काल-१, (फेयरसर्विस, १९५६, २६२)।

बुर्ज टोकरी—चिन्हयुक्त (उपरोक्त, २६२, २६६)।

नाज़िम कठोर-मिट्टी सम्मिश्रण, चाकनिर्मित, लगभग २८०० ई पू से।

(२) प्रदहन। पकाने की पद्धति का साक्ष्य नही मिलता, लेकिन बर्तन कुल मिला कर अच्छी तरह पकाये जाते थे।

(३) मिट्टी। अच्छी तरह बारीक घोटी हुई।

(१) मृद्भाण्ड कला (क) आद्यतम हस्तनिर्मित। विवरण अप्राप्य। आम्री २६०० ई पू (ख) चाकनिर्मित (२६०० ई पू से) कोट दिजी।

(२) प्रदहन (क) साक्ष्य नही मिलता, परन्तु अच्छी तरह पकाये हुए, (ख) बाद मे मोहेजोदडो के, तथा अभिप्रेतत सिन्धु सभ्यता के, अन्तर्गत सर्वत्र भट्ठे मे पकाये जाते थे।

(३) मिट्टी। अच्छी तरह बारीक घोटी हुई। नदी वाले सूक्ष्म लवणहीन जलोढक को अधिक पसन्द किया जाता था।

(४) ल्यूटिंग (एक प्रकार की मिट्टी अथवा सीमेट से जोडना) जैसी सभी सहायक तकनीकें ज्ञात एव प्रचलित थी। मैके द्वारा दिये गये विवरण (मार्शल, १६३१, १, पृ २८७-३३५ के अन्तर्गत) निम्नलिखित हैं

(ग) मिट्टी

सिन्धु घाटी के स्थलो से ईंटें, मृद्भाण्ड तथा मिट्टी की विविध वस्तुए प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हुई हैं। उनके निर्माण मे स्थानीय जलोढक मिट्टी का उपयोग किया जाता था। इसमे बालू अथवा चूना अथवा दोनो पाये जाते है। ऐसा खासकर मिट्टी के चित्रित बर्तनो मे पाया गया है। परन्तु यह मिश्रण प्राकृतिक मालूम पडता है, कृत्रिम नही। इन उत्पादो के मौजूदा रग हल्के लाल अथवा गेरुवे है, काला तथा भूरा विरल है। ये रंग मिट्टी मे लोहे के सम्मिश्रण की उपस्थिति के कारण है, जो भट्ठे के आक्सीकृत वातावरण मे लाल आभाए विकसित करते है, जबकि काले और भूरे रग जलने के क्रम मे अपचयन अथवा धुएदार वातावरण के कारण बनते हैं। मिट्टी के बर्तनो पर कभी-कभी फेरिक आक्साइड के कारण चमकदार लाल रग का लेप चढा मिलता है, अथवा काले या चाकलेट रग मे रूपाकन (डिजाइन) चित्रित है, जो मैंगनीज आक्साइड के कारण बने है। आधुनिक काल के भारतीय कुम्हार द्वारा प्रयुक्त रग-सामग्रियो के साथ प्राचीन रग-सामग्रियो की समरूपता तथा उसकी पद्धतियों की सरलता से इसमे सन्देह नही रह जाता कि प्राचीन तकनीक बिना किसी उल्लेख्य परिवर्तन के उस तक हस्तान्तरित होती चली आयी है। वह लाल गेरू अथवा मुल्तानी मिट्टी (पीली गेरुई मिट्टी) को पानी के साथ घोट कर लाल लेप बनाता है तथा काली अथवा चाकलेट आभा के लिए मैग्निफेरस हेमेटाइट का प्रयोग करता है। मैंगनीज अयस्क, जो बहुधा फेरिक आक्साइड से सम्बन्धित है, मैगनीज की अधिकता रहने पर काला रग प्रदान करता है, लेकिन जब लोहे की मात्रा अधिक हो जाती है, तब चाकलेटी रग बनाता है।

(घ) लाल मृद्भाण्ड

छोटे मर्तबान एक विशेष प्रकार की लेई से बनाये जाते थे। इसकी संरचना अत्यधिक सूक्ष्म होती है तथा इसमे बालू अथवा चूना नही पाया जाता। यह उचित ही था, क्योकि इससे सूखते अथवा पकाते समय इन छोटे बर्तनो मे मरोड अथवा दरार पडने का खतरा कम रहता था। अधिकाश लाल बर्तन, जिन पर पतली कलई से लेकर मोटी तह तक का लेप चढाया जाता था, लाल अथवा मक्खनी अथवा उजले रग से रगे जाते थे। कुछ बर्तनो पर ऊपर गाढा लाल तथा नीचे हल्का लाल, दो लेप रहते थे। अपेक्षाकृत अच्छी कोटि के अधिकाश मृद्भाण्डो के लिए लाल आक्साइड का उपयोग होता था, चाकलेट या बैंगनी रग का इस्तेमाल बहुत कम होता था। ये चाकलेटी तथा बैंगनी लेप मैंगनीज आक्साइड तथा थोडे लाल आक्साइड के मिश्रण से अपना रग ग्रहण करते थे। यह समझा जाता है कि इनके कारण बर्तनो स पानी चूता नही था। लेकिन किसी भी स्थिति मे बर्तनो की पेंदी पर लेप और पालिश नही की जाती थी (मैंके, १९३८, १, पृ १७८)।

(ङ) भूरे मृद्भाण्ड

इस मृद्भाण्ड के अपने अध्ययन मे मैंके ने, बर्तनो की रगत मे पर्याप्त भिन्नता के कारण, अनुमान लगाया कि गाढापन लाने के लिए भिन्न-भिन्न अनुपातो मे, कुछ मिलाया जाता होगा। बाहरी सतह को पूर्णत अथवा अशत, पालिश किया जाता था, जो साबुन की तरह मालूम होती थी।

(च) काले मृद्भाण्ड

काला रग अथवा काले रग के लेप दीप की कालिख अथवा लकडी के कोयले से बनाये जा सकते है, अथवा तेल या तुथी (एक्यूशन इडिकम) के रस मे मिश्रित लकडी के रूक्ष चूर्ण, अन्न के चूर्ण अथवा एक प्रकार के घूने, गोद अथवा काजल मे अत्यन्त गर्म बर्तन को धुआ लगाकर उत्पन्न किये जा सकते है (मैंके, १९३८, पृ १७५)।

मैंके ने मोहेजोदडो के मिट्टी क बर्तन मे एक तीसरे प्रकार की मिट्टी भी देखी। असामान्य आकृति तथा पतली बनावट वाले मर्तबानो के लिए इसका अधिकाश उपयोग पाया जाता था। यह मिट्टी किसी भी सामग्री के साथ कभी नही मिलायी जाती थी और बर्तन के टूटने पर भग स्पष्ट मालूम पडता था (मैंके, १९३८)।

(छ) सम्मिश्रण सामग्रियां

अबरख, चूना और बालू जैसी सम्मिश्रण सामग्रियो को मिट्टी मे मिलाया

हुआ पाया गया है। यथोचित मात्रा मे मिलाया गया अबरख, मिट्टी को चाक पर सभालना, साथ ही बर्तन को टूटे बगैर सुखाना सुकर बनाता है। मिट्टी में चूने के योग का क्या खास उपयोग था, यह अभी तक वैज्ञानिक रूप से निश्चित नही हो पाया है (मैके, १९३८, पृ १७६)।

(ज) अलकृत मृद्भाण्ड

मोहेंजोदडो के बर्तनो को रगचित्रण के अतिरिक्त (१) रस्सी (कॉर्ड), (२) उत्कर्तन कार्य (इन्साइज्ड वर्क), (३) दतुरण (स्कोरिंग), (४) छेदन (परफोरेशन), (५) अभिरेखण (ग्रैफिटी) तथा (६) छाप-चिह्न (इम्प्रेशन) से अलकृत किया जाता था।

(१) रस्सी से डाली गई धारियां (कॉर्डेड)। चाक पर धीरे-धीरे घूमते समय अथवा स्थिर अवस्था मे भी बर्तन के चारो ओर रस्सी लपेटी जाती थी।

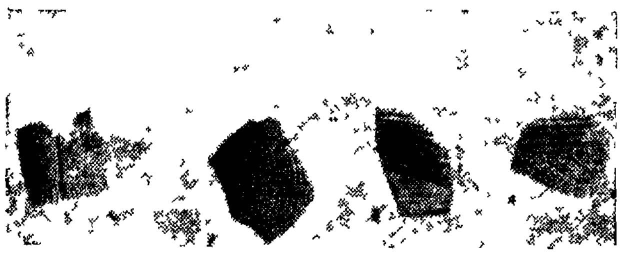
(२) उत्कर्तित। उत्कर्तित अलकृति प्राय कडाही के आधार तक तथा सदैव भीतरी भाग मे ही सीमित रहती थी। ऐसे नमूने विरल कहे जाते है। परन्तु अब आम्री, कोट-दिजी तथा कालीबगन से प्राप्त साक्ष्यो के आधार पर मालूम होता है कि प्राक्हडप्पा युग मे यह एक प्रिय युक्ति थी। और यह सर्वथा सम्भव है कि जो थोडे से उदाहरण मैके द्वारा मोहेंजोदडो मे देखे गय वे किसी पूर्व-युग के अवशेष हैं अथवा सच तो यह है कि यह मोहेंजोदडो मे प्राग्हडप्पायुगीन चरण के है (चित्र-४, १-२)।

(३) दन्तुरण। यह बहुत तेज उपकरण मे, सम्भवत धातु की कघी से किया जाता था (मैके, १९३८, १, पृ १७९)।

(४) छिद्रित। अनेक आकारो के बेलनाकार छिद्रित बर्तनो के अतिरिक्त कुछ छिद्रित भाण्डो के टुकडे भी पाये गये है। ये वर्गाकार या आयताकार आधारो अथवा अवलबो के अश मालूम पडते हे। कर्त्तक (कटर) के कार्य को सुगम बनाने हेतु, सर्वप्रथम बिना पकायी हुई मिट्टी पर रूपाकन उकेरने के बाद ये छेदन किये जाते थे। इस प्रकार के छेदन पछेती ताम्र-पाषाण सस्कृतियो मे भी, प्राय अवलबो पर, पाये जाते है और सम्भवत मर्तबान के अवलब का वजन कम करने के लिए उपयोगी होते थे। परन्तु कभी-कभी ये केवल सजावट के लिए होते थे।

(५) अभिरेखण। मोहेंजोदडो मे बर्तन-चिह्न तथा अभिरेखण दुष्प्राप्य माने जाते थे। लेकिन मैके द्वारा किये गये अनुवर्ती उत्खननो मे ये पर्याप्त सख्या मे मिले हैं। बर्तन के पकने के बाद स्थूलत काटकर बनाये गये रेखा-चिह्न अथवा सजावट को ही सामान्यत अभिरेखण कहते है। ऐसे चिह्नो

मे नाव का रेखण सबसे अधिक रोचक है। नाव के अगले तथा पिछले भाग पैने तरीके से ऊपर की ओर उठे हुए हैं तथा वह एक ही पतवार से नियन्त्रित दीख पडती है। मस्तूल सम्भवत तिपाई के आकार का हो सकता है, जबकि एक रेखा सिमटे हुए पाल को दर्शाती है। सर्वथा इसी प्रकार की नावें सिन्धु नदी मे अभी भी चलती है। और नदी मे चलने वाली नाव के लिए ऊचे अगले तथा पिछले भाग खासकर उपयुक्त रहे होगे ताकि ढलुए किनारे पर माल सुरक्षित रूप से उतारा जा सके। ऐसी ही नावें अन्यत्र भी समुद्री-यातायात के लिए उपयोग मे आती थी (मैके, १६३८, १ पृ १८३)



चित्र-४

उत्कीर्तित (१ २) तथा आरक्षित (३-४) लेपदार बर्तन। मोहॅजोदडा। मैके, मोहॅंजोदडो, १६३८, फलक LXVII।

अनुवर्त्ती उत्खननो मे निचले स्तरो से उत्कर्तन के नमूने प्रकाश मे आये है। मैके कुछ प्रतिनिधि उदाहरणो का विस्तारपूर्वक दृष्टान्त एव विवरण देते हैं। मध्यम मोटाई का, बिना लेपवाला भूरे रग का बर्तन तीक्ष्ण धार वाले उपकरण द्वारा लम्बी वक्र रेखाओ से अलकृत किया गया है। उपकरण प्रत्येक कटान के एक भाग को कुछ ऊपर उठा देता था, जैसे प्राय हल द्वारा मिट्टी का खण्ड उलट दिया जाता है। तत्पश्चात्, दातेदार प्रभाव लाने के लिए वही उपकरण इस प्रकार बने कटको के आर-पार समकोणो पर धीरे से चलाया जाता था। अनेक ढाचे सीपियो की स्मृति दिलाते है, और इनमे से कुछ वस्तुत सीपी को उपकरण की तरह इस्तेमाल करके बनाये जाते थे (मैके, १६३८, १, पृ १८४-८६)।

(६) **छाप-चिन्ह अलकरण।** मैके द्वारा इसको उत्कीर्तित अलकरण के अन्तर्गत रखा गया है। इसके अन्तर्गत ऐसे नमूने अथवा रूपाकन आते हैं जो पहले लकडी के ठप्पे पर तैयार कर लिये जाते थे, और फिर पकाने के पहले मिट्टी पर इन्हे छाप दिया जाता था।

(झ) ग्लेजदार मृद्भाण्ड

इस प्रकार का मृद्भाण्ड, जो प्रारम्भिक इस्लामिक अवधि (६०० से १४०० ई.) की एक सामान्य विशेषता है, मोहेंजोदड़ो, लोथल के निम्नतम स्तरों मे पाया गया है तथा कच्छ मे हड़प्पा सभ्यता वाले कतिपय स्थलो की सतह पर मिलता है। ये सभी हल्के भूरे रग के बर्तन हैं, जिन पर गाढा बैंगनी लेप चढ़ा हुआ है जिसे सावधानीपूर्वक चमकाया गया है। तत्पश्चात् ऊपरी सतह पर ग्लेज़ चढाया जाता था, लेकिन पकाने के पहले कघी से ग्लेज़ तथा लेप का एक अश निकाल दिया जाता था जिससे सजावटी ढाचे के रूप मे सरल या लहरदार रेखाए बन जाती थी। मिट्टी के इन बर्तनो की तुलना मेसोपोटामिया के स्थलो से प्राप्त आरक्षित लेपदार बर्तनों से की गई है।

(ञ) आरक्षित लेप

"आरक्षित" मिट्टी के बर्तनो के कुछ खण्ड मोहेंजोदड़ो के निचले स्तरो मे मिले हैं। बाद मे लोथल, देसलपुर तथा अन्य स्थलो से भी ये प्राप्त हुए हैं। (चित्र ४, ३-४)।

तथाकथित "आरक्षित लेप" की पाच प्रक्रियाए अथवा चरण हैं

(१) रगीन मिट्टी से प्रतिरूपण के बाद बर्तन पर तह चढाना।

(२) किसी कुद उपकरण से तह चढी सतह को चमकाना।

(३) लेप का प्रयोग तथा धूप मे बर्तन को सुखाना।

(४) कघी-जैसे उपकरण से लेप के एक अश को हटा कर कोई रूपाकन बनाना।

(५) उच्च तापक्रम मे बर्तन को पकाना।

(ट) रगचित्रित (पेंटेड) मृद्भाण्ड

एकरगा अथवा बहुरगा रगचित्रित मिट्टी का बर्तन एक ही प्रकार की मिट्टी से, तथा बालू एव चूने सदृश एक ही तरह की सम्मिश्रण सामग्रियो से बनाया जाता था।

सामान्यत, पालिश किये हुए लेप के ऊपर रगलेप किया जाता था, यानी पालिश रूपाकन के रगचित्रण के बाद नहीं की जाती थी। इसका कारण यह है कि रगलेप की सतह अपरिहार्यत निष्प्रभ होती है और जहा इसे मोटे रूप मे लगाया गया है, वहा इसका उभार स्पष्ट नजर आता है। ऐसा नवदाटोली, नेवासा, जोर्वे इत्यादि से प्राप्त रगचित्रित बर्तनो मे देखा गया है।

(ठ) रगलेप (पेंट)

साधारणतया उपयोग मे लायी गई रगने की सामग्री मैंग्नीफेरस हेमेटाइट

होती थी, जो उसमे युक्त लोहे की मात्रा के अनुसार जल कर पीतलाल अथवा बैंगनीकाली हो जाती है। सिन्ध मे आज भी यही रगद्रव्य रगचित्रित बर्तनो के लिए उपयोग मे लाया जाता है। बहुरगे बर्तनो के लिए लाल गेरुवे रग का भी उपयोग किया जाता था और कभी कभी एक हरा रगद्रव्य, टेरे वेर्टे, उपयोग मे लाया जाता था।

(ड) कूचियां

रूपाकनो का रगचित्रण करने के लिए लेप, कदाचित विभिन्न बारीकियो वाले पुचारो तथा केश की कूचियो से लगाये जाते थे। मैके के विचारानुसार कतिपय विवरणो के लिए, मसलन पत्ते बनाने के लिए, सरकडे की कलम का उपयोग होता था (मैके, १६३८, १, पृ ३१५)।

(ढ) रगचित्रित रूपांकन

सभी रगचित्रित रूपाकनो मे मोहेजोदडो के कलाकारो का एक प्रिय रूपाकन था, 'परस्पर काटते हुए वृत्त'। और इसमे सभवत ज्यामिति के कुछ ज्ञान की तथा इन्हे खीचने के लिए ज्यामितिक उपकरणो की आवश्यकता थी।

रूपाकन सर्वप्रथम नुकीले उपकरण से प्रारम्भ किया जाता था, जिसके चिह्न अभी भी देखने को मिलते है। पहले बर्तन की सतह को न्यूनाधिक बराबर भागो म विभक्त करते हुए, लम्बवत रेखाए खीची जाती थी, बर्तन के एक टुकडे के ऊपर २ ६६ एव २ ५८ इचो की दूरी पर स्थित तीन रेखाए मिली है। इन रेखाओ पर केन्द्र रखते हुए, स्पष्टत ही परकार द्वारा परस्पर काटते हुए वृत्त उकेरे जाते थे। इसमे क्षैतिज रेखाए नही हैं, क्योकि प्रतिरूप बनाना प्रारभ करने के लिए लम्बवत रेखाओ के ऊपर वृत्तो के केंद्रो को चिह्नित करना आवश्यक था। उनके बीच की दूरी को समद्विभाजित करके इन रेखाओ के बीच मे रखे जाने वाले वृत्तो के केन्द्रो के तलो को आसानी से निश्चित कर लिया जाता था। वृत्तो के व्यास एकरूप नही है, जिससे यह सकेत मिलता है कि उकेरने वाला उपकरण कोई साचा (टेम्पलेट)* नही होता था (मैके, १६३८, १, पृ २२१)।

विभिन्न रूपो एव आकारो के बर्तन निम्नलिखित तरीको से बनाये जाते थे

अधिकतर बर्तनो के पेंदे सपाट है, जिससे ये ईंटो के बने सपाट फर्श पर आसानी से रखे जा सकते थे। इन सपाट पेंदो के बीचोबीच छोटा गड्ढा

---

* काटने अथवा छेद करने के निर्देश हेतु पतले बोर्ड या धातुपत्र के रूप मे उपयोग मे लाया जाने वाला ढाचा या मापी।

दिखायी पडता है जो चाक के ऊपर से तागे द्वारा बर्तन के काटे जाने के कारण बना है। बर्तन के धीरे धीरे घूमते समय यह क्रिया की जाती थी। तागा या तो दोनो हाथो के बीच रखा जाता था या इसका एक छोर कुम्हार की कानी अगुली मे बधा होता था और दूसरा छोर अलग किये जाने वाले बर्तन के पेंदे से लगा होता था। बर्तन चाक पर घूमते रहने के कारण अपने आप कट जाता था।

कोनेदार (कोण वाले) स्कधित बर्तन दो भागो मे बनाये जाते थे, जिन्हे गीली अवस्था मे ही जोड दिया जाता था तथा फिर अन्तिम काट-छाट के लिए चाक पर चढाया जाता था। कभी-कभी बर्तन की गर्दन भी अलग से बनायी जाती थी।

इसी प्रकार धूपदान अथवा अर्घ्य-थाम चाक पर दो भागो मे बनाये जाते थे, जिनके धड और पेंदे एक भाग के अन्तर्गत तथा तश्तरीनुमा ऊपरी हिस्सा दूसरे भाग के अन्तर्गत आते थे। जोड सावधानीपूर्वक ल्यूट (एक प्रकार की सीमेन्ट) से लगाये जाते थे, तथा मैके का अनुमान है कि अन्तिम काट-छाट के लिए थाम को चाक पर रखा जाता था।

इन अर्घ्य-थामो के ऊपर सुन्दर ढग से रगडकर पालिश किया हुआ मोटा लप चढा हुआ है, जो प्रलाक्षा के समान दीख पडता है।

ये अर्घ्य-थाम तीन इच से लेकर दो फुट की ऊचाई तक अनेक आकारो के है। कुछ मे लम्बे स्तम्भ है, स्तम्भ के शीर्ष भाग के ऊपर गेंद सदृश ढलाई है। मैके के अनुमानो के अनुसार, गर्म ज्योतिपात्र के स्पर्श से हाथ के बचाव के लिए यह युक्ति की गई होगी, अथवा, हमारे विचार मे, लाने-ले जाने की सुविधा के लिए, विशेषकर जब उसमे कुछ अर्घ्य रखा हो, ऐसा किया गया होगा।

(ण) भट्ठे

मोहेजोदडो के अन्तर्गत अभी तक ज्ञात दो भट्ठो मे से जो अधिक साबुत बचा है, वह (डी के क्षेत्र, प्रखण्ड-२, गृह-३) सतह पर अण्डाकार था (यद्यपि यह समझा जाता है कि यह आकार ऐसा सोचकर नही बनाया गया था)। भीतर से इसका माप ६′ × ४′ ६″ है। ऊचाई अज्ञात है। इसके कार्य के सम्बन्ध मे मैके का विचार इस प्रकार है "लकडी अथवा सरकण्डे के ईंधन के लिए एक गडढा बनाया जाता था। इसके ऊपर पकाए जाने वाले बर्तनो को रखने के लिए एक गुम्बददार कक्ष होता था। ऊपरी कक्ष के फर्श के गोल छेदो द्वारा दोनो के बीच सम्पर्क स्थापित किया जाता था (लोथल से प्राप्त अपेक्षाकृत अधिक साबुत भट्ठा देखे) (चित्र ५-७)।

ये भट्ठे तदूर (ओवन) के सिद्धान्त पर काम करते थे। खुले तंदूर या

भट्ठे की अपेक्षा इसका लाभ यह था कि ताप के सकेन्द्रण के बाद इसे आवश्यकतानुसार चिमनियो के द्वारा अपवाहित किया जा सकता था, परिणामत. ईंधन की बचत हो सकती थी तथा धुएं के दागो से भी बचा जा सकता था। फलस्वरूप, सभी बर्तन, यहा तक कि एक इच से अधिक की भित्ति वाले बड़े-बड़े बर्तन भी, अच्छी तरह पक जाते थे।

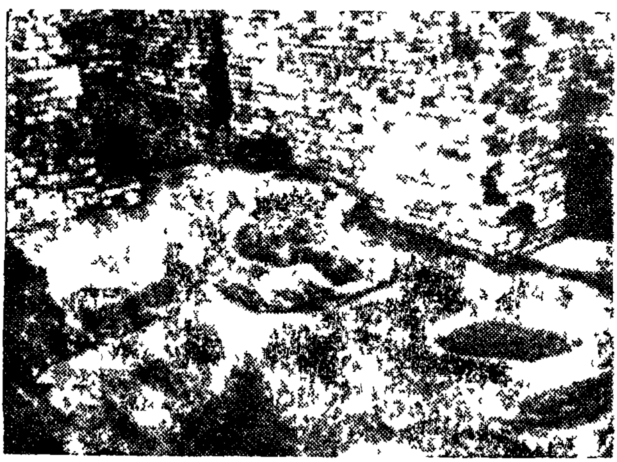
इसलिए यह आश्चर्य की बात है, जैसा कि मैंके कहते हैं, कि सिन्ध के कुम्हार आज खुले भट्ठे का उपयोग करते हैं, लेकिन उतने ही अच्छे बर्तन तैयार करते हैं। अतएव उनका निष्कर्ष है कि बर्तन का सफलतापूर्वक पकना सदा भट्ठे के प्रकार पर निर्भर नही करता, यद्यपि भट्ठा जितना ही विस्तृत होता है उसमे ईंधन की आवश्यकता उतनी ही कम होती है तथा फटे हुए एव खराब आकृति वाले बर्तन उतने ही कम निकलते हैं (वह आगे कहते हैं कि किसी ने यह निश्चित रूप से नही कहा है कि खुले भट्ठे मे कितने बर्तन बर्बाद होते थे) (मैंके, १९३८, १, पृ १७६-७८)।

यह उल्लेख करना रोचक होगा कि कश्मीर के गौफ काल नामक कुम्हारो के गाव मे आजकल भी ठीक इसी प्रकार का भट्ठा प्रचलित है।

(ग) अन्य क्षेत्रों से प्राप्त मृद्भांड

पजाब

जो अवस्थाए सिन्ध मे ज्ञात हुई हैं, वे पजाब मे भी उपलब्ध है, लेकिन



चित्र-५

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त भट्ठे। मैंके, १९३८, फलक XXXV (ए)

आद्यतम अवस्था को अभी तक अच्छी तरह प्रलेखित नही किया गया है।

राजस्थान

इस पर अलग से विचार किया जाना चाहिए

(क) उत्तरी राजस्थान

(ख) दक्षिण-पूर्वी राजस्थान

(क) उत्तरी राजस्थान मे सिन्ध और पजाब जैसी अवस्थाए देखी जाती हैं, यद्यपि अभी तक ज्ञात पुरातनतम स्थल—कालीबगन—मे सिन्ध और



चित्र-६

मोहेजोदड़ो से प्राप्त भट्ठा। मैके, मोहेंजोदडो, १९३८, फलक XXXV (डी)

बलूचिस्तान जैसे हस्तनिर्मित मृद्भांड नही मिलते, किन्तु केवल चाकनिर्मित परिष्कृत बर्तन पाये गये हैं। यह सचमुच आश्चर्य की बात है, क्योकि कम से कम कुछ बडे सचय-पात्रो का निर्माण हाथ से होना चाहिए था।

(ख) दक्षिण-पूर्वी राजस्थान—यहा अहाड मे मृद्भाण्ड तकनीक का बहुत अभिरुचिपूर्ण तथा शिक्षात्मक साक्ष्य मिलता है। केवल सुपरिष्कृत भोजन-पात्र, श्वेत-रगचित्रित काले-और-लाल बर्तन एव विभिन्न आभाओं वाले लाल बर्तन ही नही, बल्कि मध्यम-आकार के सचय-पात्र भी—कम से कम उनके स्कध के ऊपर वाले भाग एव गर्दन—चाक पर बनाये जाते थे। निचला भाग, लगभग समान रूप से, बालू से खुरदरा किया हुआ मिलता है, इसलिए विश्वास के साथ कहना सम्भव नही कि यह पूर्णत हाथ से बनाया

जाता था अथवा पहले चाक पर बनाकर बाद मे चाक मे बनने के साक्ष्य को मिटाते हुए हाथ से खुरदरा किया जाता था। यह लक्षण परवर्ती अत्यन्त विषम सतहों वाले काले-रंगचित्रित लाल बर्तनों पर देखा गया है ऊपरी भाग चिकना तथा लाल है, जबकि निचला भाग रुक्ष एवं हल्के भूरे अथवा



चित्र ७

मिट्टी के बर्तन पकाने का भट्ठा। लोथल (एस आर. राव के अनुसार)। इस प्रकार का भट्ठा अभी भी कश्मीर मे श्रीनगर के निकट गौफ काल (कुम्हारो के गांव) मे उपयोग में लाया जाता है।

मिट्टी के रंग का है। कुछ बड़े कुंडे (बेसिन) हाथ से बनाये जाते थे, यद्यपि अन्य मृद्भाण्ड—भूरा तथा काला—सम्पूर्णतः चाक पर बना मिलता है।

श्वेत-रंगचित्रित काले और लाल बर्तनो से सम्बन्धित विवरण निम्न-लिखित हैं (मजूमदार द्वारा व्यक्तिगत जानकारी)

१ बर्तन काला और लाल (श्वेत-रंगचित्रित)

२ क्षेत्र अहाड

३ काल ताम्रपाषाण

४ रंग ऊपर काला तथा लाल, लालीयुक्त पीला
१० ला, २ ५ पी ला, ५ पी ला, ७ ५ पी ला
भीतर काला तथा गहरा भूरा
अनुभाग (सेक्शन)—काला भूरा

५ कड़ापन ४/५ मोह का माप (स्केल)

६ सम्मिश्रण बहुत बारीक रेतीली सामग्री, कोई पौधेवाली सामग्री नहीं देखी गई

७ लेप मोटा लेप

८ चाक-चिह्न परिलक्षित

९ पालिश उपस्थित, अर्ध-कांतिमय

१० रंगचित्रण श्वेत रंगचित्रण, मुख्यतः काली सतह पर

११ प्रदहन एक बार अथवा दोहरा रेडोक्स प्रदहन, उतना परिपूर्ण नहीं।

अतिरिक्त विवरणो के लिए देखें मकालिया तथा अन्य, १९६९, पृ १८-२८।

पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश

आद्यतम मृद्भाण्ड, जैसा कि तीन या चार स्थलो के उत्खननों से प्रकाश मे आया है, गेरुवे रंग का मृद्भाण्ड है, जो

(क) हड़प्पा संस्कृति वाले

(ख) बाड़ा प्रकार के उत्कर्तित बर्तनो

(ग) तिरोगामी लेपयुक्त लाल बर्तनो

(घ) सीमेटरी-एच जैसे मृद्भाण्ड से सम्बद्ध है।

(कृष्णदेव, पौटरी सेमिनार पेपर, पटना, १९६८ स, सिन्हा, १९६९)।

बनावट

मिट्टी के गेरुवे रंगवाले बर्तन में साधारणतः

(१) मोटी बनावट (सामान्य)

(२) पतली बनावट (विरल) है।

मिट्टी : अच्छी तरह बारीक घोटी हुई।

प्रदहन उच्च तापक्रम मे अच्छी तरह पकाया हुआ, केवल कोर का रग भूरा।

अपक्षयन न तो पानी मे लुढ़कने के कारण अथवा न जमे हुए पानी मे पड़े रहने के कारण, बल्कि लगातार खुली हवा मे पड़े रहने तथा उस पर हवा द्वारा लाई गई रेतीली (सिल्टी) बालू के पड़ जाने के कारण अपक्षयन होता है (लाल, पौटरी सेमिनार पेपर, पटना, १९६८ स , सिन्हा, १९६९)।

मध्य प्रदेश

यहा अब अनेक बर्तन है। कालक्रमानुसार ये इस प्रकार हैं

(१) कयथा बर्तन

(२) श्वेत-रगचित्रित काला-और-लाल बर्तन

(३) मालवा के बर्तन तथा उनके सहवर्ती

(४) जोर्वे के बर्तन

(५) चित्रित भूरे बर्तन, उत्तरी काला पालिशदार और उसके सहवर्ती। यहा तीन बर्तनो, (i) कयथा, (ii) मालवा और उनके सहवर्ती तथा (iii) श्वेत-लेपदार बर्तन, के कुछ विवरण दिये गये हैं (मजूमदार, व्यक्तिगत जानकारी)।

(१) कयथा बर्तन

१ बर्तन कयथा बर्तन

२ क्षेत्र कयथा (मध्य प्रदेश)

३ काल ताम्रपाषाण

४. कड़ापन ४/५ मोह का माप

५. रग ऊपरी (लेप) सतह लाली युक्त बादामी/गाढा भूरा/अति गाढा भूरा/काला, ५ पी ला , २ ५ पी ला , ७ ५ पी ला

नीचे लालीयुक्त पीला/५/पी ला , ७ ५ पी ला

अनुभाग पीलापनयुक्त लाल/५ पी ला

६ सम्मिश्रण सामग्री : पौधेवाली सामग्री की सम्भावना, कुछ घास भी परिलक्षित

७ लेप मोटा लेप (लाली युक्त बादामी/गाढा भूरा/अति गाढा भूरा/काला), मुनसेल ५ पी ला , २ ५ पी ला , ७ ५ पी ला

८ चाक-चिन्ह परिलक्षित

९ पालिश हल्के चिन्ह, अकांतिमय

१० रंगचित्रण लेपदार सतह पर लाल रंगचित्रण

११ प्रदहन आक्सीकरण की पूर्णता, काफी अच्छी धातु के वलय

(२) मालवा के बर्तन

१ बर्तन मालवा

२ क्षेत्र नवदाटोली

३ काल ताम्रपाषाण

४ रंग

(क) ऊपरी सतह विविधतापूर्ण . ५ पी ला /२ ५ पी. ला

(ख) भीतरी भाग : विविधतापूर्ण ५ पी ला /७ ५ पी. ला

(ग) कोर काला/भूरा

५ कड़ापन ४/५ मोह् का माप

६ लेप मध्यम मोटा लेप

७ चाक-चिन्ह परिलक्षित

८ पालिश उपस्थित, अर्ध-कांतिमय

९ प्रदहन आक्सीकरण उतना पूर्ण नहीं, धातु के अच्छे वलय अनुपस्थित

१० रंगचित्रण कालापन युक्त बादामी

११ सम्मिश्रण सामग्री पौधेवाली सामग्री, विशेषकर घास
(अतिरिक्त विवरण के लिए देखें संकालिया तथा अन्य, १९५८ तथा १९७०-७१)।

(३) मक्खनी लेपदार मालवा के बर्तन

१ बर्तन मक्खनी लेपदार रंगचित्रित मालवा के बर्तन

२ क्षेत्र नवदाटोली

३ काला ताम्रपाषाण

४ कड़ापन ३/४ मोह् का माप

५ रंग

ऊपर लालीयुक्त पीला (कभी कभी भूरा) काले बादामी रंगचित्रण के साथ, ५ पी. ला ७ ५ पी ला, १० पी. ला.

नीचे ऊपर के समान, रंगचित्रण रहित

अनुभाग दोनो सतहों से अधिक लाल, ५ पी ला कई बार कोर भूरापन लिये हुए

६. सम्मिश्रण सामग्री : पौधेवाली सामग्री, विशेषकर घास
७. लेप : मोटा लेप (श्वेत/लालीयुक्त पीला)
संभवत केओलिन-आधारित लेप की विभिन्न मोटाइयो के कारण यह अन्तर है ।
८. चाक-चिन्ह परिलक्षित
९ पालिश हलके चिन्ह
१० रगचित्रण ऊपरी सतह पर काला/बादामी रगचित्रण
११ प्रदहन आक्सीकरण उतना पूर्ण नही धातु के अच्छे वलय अनुपस्थित।

उत्तर प्रदेश

१ मृद्भाण्डो का अगला प्रमुख वग चित्रित भूरा बर्तन है । यद्यपि यह चाक-निर्मित है जिसकी भित्तिया "सभवत किसी प्रकार के डिग्रेसेंट से रहित", बारीक घोटी हुई चिकनी मिट्टी की बनी, पतली हैं, लेकिन जिस तकनीक द्वारा यह आग मे पका कर समरूपत भूरा (तथा कही-कही लाल) बनाया गया, वह समझ मे नही आ सकी है (लाल, १९५४-५५, पृ, ३२) । यद्यपि अपचयन की अवस्था मे इसका पकाया जाना स्पष्ट है, फिर भी उस पर पूर्ण नियन्त्रण अवश्य रहता होगा । इस नियन्त्रण की उपलब्धि कैसे हुई, यह अभी तक अज्ञात है । बल्लभ शरण (१९६८) ने मोटे तौर पर सुझाव दिया है कि

(१) बर्तन को चाक पर दो बार रखा जाता था, अथवा पहले चाक पर रखा जाता था, बाद मे चर्म-सदृश कठोर होने पर उस पर से हटा लिया जाता था, और इसके बाद किसी प्रकार के खराद से सलग्न कर, खुरच कर उसकी भित्तिया छील दी जाती थी। ऐसे "खुले प्रकार" के बर्तन जिनमे अण्डे के छिलके की मोटाई के बराबर भित्तिया होती हैं, आजमगढ मे बनाये जाते हैं।

(२) सना उल्ला के निष्कर्ष के अनुसार बर्तन का ऐसा रग भट्ठे मे अपचयित गैसो की क्रिया द्वारा उत्पन्न काले फैरस आक्साइड के कारण है ।

कौशाम्बी

काल-१ (१३०० ई पू से १००० ई पू)
आद्यतम बर्तनो के पाच उपवर्ग हैं

(१ क) लाल (अत्यन्त सामान्य), कभी-कभी काले रग मे चित्रित
(१ ख) मजबूत भूरा-पाडु बर्तन (थोडी प्रतिशतता)
(१ ग) खुरदरा काला-तथा-लाल बर्तन

(१ घ) उत्कीर्तित बर्तन

(१ ङ) खुरदरा काला बर्तन

१ क प्रकार

(क) मजबूत लाल बर्तन

(ख) चाकनिर्मित

(ग) भूसा, बालू तथा चूना मिश्रित चिकनी मिट्टी

(घ) अच्छी तरह पका हुआ, नारगी कोर युक्त

(ङ) कभी-कभी काले रग मे चित्रित

(च) कटोरे (अनेक प्रकार के), थालिया, कटकयुक्त छिछले कुन्डे, छोटे प्याले (गोब्लेट), बड़े प्याले (बीकर), मचय-घट ।

१ ख मजबूत भूरा पाडु बर्तन

(क) चाकनिर्मित

(ख) चिकनी सतह पर काला लेप

(ग) सतह पर छीलने की तकनीक

१ ग-१ङ खुरदरा काला एव काला-तथा-लाल बर्तन

केवल खण्ड—आकाररहित

(क) धीमे चाक पर निर्मित (?)

(ख) प्रस्तर-खण्ड मिश्रित खुरदरी सामग्रीयुक्त अत्यन्त रुक्ष चिकनी मिट्टी

(ग) निम्न तापक्रम मे बर्तन को औंधे रखकर पकाना

(घ) काले लेप के चिन्ह

(ङ) कभी-कभी काले लेप पर श्वेत रगचित्रण

तीन उपवर्गों सहित काल-२ (१००० ई पू-६०० ई पू)

२ क प्रकार

(क) लाल बर्तन

(ख) तेज चाक पर निर्मित

(ग) दोनो ओर अबरख मिश्रित गेरुवे रग का लेप

(घ) सामान्यत बाहरी सतह पर, लेकिन कभी-कभी भीतरी सतह पर भी, यदा-कदा काले अथवा श्वेत रग मे चित्रित

(ङ) कटोरे, थालियां, थामो-पर-कटोरिया, थामो पर थालिया, कुन्डे, कनखे तथा गर्दन-रहित घड़े, मचय-पात्र, खाना पकाने के कोनदार बर्तन ।

२ ख काला-तथा-लाल बर्तन

(क) अच्छी तरह घोटी हुई चिकनी मिट्टी

(ख) औंधे रखकर पकाना

२ ग उत्कीर्तित बर्तन

सादृश्य उत्तर हड़प्पा तथा मध्य भारतीय, आदि

काल–३

इसके चार उपवर्ग हैं।

३क चित्रित भूरा बर्तन

३ख काला लेपदार भूरा बर्तन

(क) तेज चाक पर निर्मित

(ख) चिकना काला लेप तथा कदाचित चमकाया हुआ

(ग) पूर्ववर्ती सरचना

(घ) कटोरे तथा थालिया

(ङ) उत्तरी काला पालिशदार का पूर्ववर्ती (?)

(च) पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे अनेक स्थल

३ग सादा भूरा बर्तन

३घ काला-तथा-लाल बतन

काल–२ के सदृश

३ङ दो बनावटो वाले लाल बर्तन

(क) रुक्ष लाल

(ख) चमकीला लेपदार लाल बर्तन

३च (क) अशात हस्त-निर्मित

(१) कनखे चाकनिर्मित तथा ल्यूट से जुड़े हुए, जिन पर थापी (डैबर) ठोकने के चिन्ह दीखते हे

(२) भूसा तथा अबरख मिश्रित चिकनी मिट्टी

(३) अच्छी तरह पका हुआ

(ख) चाकनिर्मित

(४) अच्छी तरह घोटी हुई चिकनी मिट्टी

(५) अच्छी तरह पका हुआ

(३) कटोरे, थालियां, कुंडे, बड़े-बड़े संचय-पात्र।

डेकन कालेज में मजूमदार द्वारा किये गये कार्य के अनुसार इन बर्तनों के अतिरिक्त विवरण इस प्रकार हैं

१ **बर्तन** चित्रित भूरा बर्तन

२ **क्षेत्र** अत्रंजिखेड़ा (उत्तर प्रदेश)

३ **काल** उत्तरी काला पालिशदार से पूर्व (ताम्रपाषाण काल ?)

४ **रंग** ऊपरी सतह पर भूरे रंग की एकरूप आभाए, यदा-कदा काले धब्बे भी

रगचित्रण · काला

भीतर काले रग मे चित्रणयुक्त वैसा ही

अनुभाग वैसा ही रग

५ **कड़ापन** उत्तरी काला पालिशदार के समान ही

६ **सम्मिश्रण-सामग्री**

७ **चाक-चिन्ह** उत्तरी काला पालिशदार बर्तन की तरह

८ **पालिश** अस्पष्ट

९ **रगचित्रण** दोनो सतहो पर काला रगचित्रण

१० **प्रदहन** एकरूप भूरे रग पर रुक जाने के लिए भटठे पर पूर्ण नियन्त्रण के साथ अपचयन

११ **लेप** पतला स्वयलेप

३ अपने प्रमुख भेदो—सुनहले, रुपहले तथा इस्पात सदृश भूरे—सहित तथाकथित उत्तरी काला पालिशदार बर्तन चित्रित भूरे बर्तन का उत्तरवर्ती है। उत्तरी काला पालिशदार बर्तन, निस्सन्देह, चित्रित भूरा बर्तन अथवा काला पालिशदार बर्तन (जैसे कौशाम्बी, हस्तिनापुर इत्यादि मे) से विकसित होकर अपनी चरम सीमा पर पहुचा। यद्यपि जिस तकनीक द्वारा इन उत्कृष्ट बर्तनो का निर्माण होता था उसे समझने के लिए कुछ उल्लेख्य प्रयोग किये गये है, फिर भी इनकी निर्माण-तकनीक रहस्य बनी हुई है। भारद्वाज (१९६८) सना उल्ला तथा लाल के पूर्व विचारो से सहमत होते दीखते हैं कि

(१) असली उत्तरी काले पालिशदार बर्तन का काला रग कार्बन के योग के कारण है

(२) तत्व जो भी हो, जैसा कि हेज ने निष्कर्ष निकाला है, वह न फेरास है, न मैग्नेटिक (प्रसगों के लिए भारद्वाज, १९६८ देखें)।

इसके अतिरिक्त मजूमदार द्वारा किया गया विश्लेषण नीचे दिया गया है

१ **बर्तन** उत्तरी काला पालिशदार

२. क्षेत्र कौशाम्बी, मसाओ इत्यादि (उत्तर प्रदेश)

३. काल . ताम्रपाषाण तथा प्रारम्भिक ऐतिहासिक (लौह युग) का संधि-काल

४ रग ऊपरी विविधतापूर्ण, मुख्यत काला, रूपहला, सुनहला, इस्पात सदृश नीला, कभी-कभी ताम्र-धात्विक आभाए। अन्दर वैसा ही

अनुभाग भूरा/गाढ़ा भूरा

५ कड़ापन ३/४ मोह का माप

६ सम्मिश्रण-सामग्री किसी सामग्री का प्रयोजनपूर्ण योग स्पष्ट नहीं (उस सामग्री को छोड़कर जो व्यवहृत प्राकृतिक मिट्टी मे उपस्थित रहती है)

७ चाक-चिह्न . परिलक्षित

८ पालिश ऐसी एकरूप चमक कि कोई दाग नही दीखता

९ रगचित्रण कभी-कभी चित्रित उत्तरी काला पालिशदार (काला और लाल) मिल जाता है

१० प्रदहन अपचयित, यथेष्ट उत्तम

११ लेप मोटा लेप उपस्थित

बिहार

यहा का अनुक्रम उत्तर प्रदेश के ज्ञात अनुक्रम से भिन्न है। अभी तक गेरुवे रग के बर्तन अथवा सिन्धु (घाटी) के सदृश बर्तन के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त नही हुए हैं। यह कहा जाता है कि काला-तथा-लाल बतन, उत्तरी काले पालिशदार बर्तन से पहले बना। यह अधिकाशत चाकनिर्मित है। यद्यपि हस्त-निर्मित बर्तन के कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं, फिर भी साधारण काले लेपदार अथवा पालिशदार बर्तन भी मिलते हैं। ये दोनो भोजन पात्र है, जिनमे कटोर और थालिया शामिल हैं जो सम्भवत चाकनिर्मित हैं। लेकिन यह सुनिश्चित किया जाना शेष रह जाता है कि रग का ऐसा प्रभाव अपचयन की अवस्थाओ मे उसके प्रदहन के कारण है अथवा दोहरे प्रदहन के कारण। इनमे रुक्ष लाल, काला और काला-तथा-लाल बर्तन हैं। लेकिन किसी की भी वैज्ञानिक जाच अब तक नहीं हुई है (सिन्हा, १९६८)।

पश्चिम बंगाल

पाण्डु राजार ढिबि तथा कतिपय अन्य स्थल। इनमे से प्रथम स्थल का सक्षिप्त विवरण उपलब्ध है। यहा चार कालो मे से प्रथम तीन काल आद्यैति-हासिक कहलाते हैं।

काल-१

१ रुक्ष भूरा अथवा लाल बर्तन, बालुकामय बनावट जिसके कोर मे धान का भूसा है। हस्तनिर्मित

२ फीका लाल बर्तन जिस पर रस्सी वाला रूपाकन है

३ काला-तथा-लाल बर्तन, घिसा हुआ। कटोरे तथा थालिया

काल-२

१ अपेक्षाकृत बारीक काला-तथा-लाल बर्तन जिसमे विभिन्न चित्रित अगीभाव (मॉटिफ) हैं

२ चमकदार लाल बर्तन, बहुधा काले रग मे चित्रित

३ चित्रित तथा सादा लाल लेपदार बर्तन, कभी-कभी उजले अथवा मक्खनी रग मे चित्रित

४ चित्रित चॉकलेटी रग का (गाढा लाल-बादामी) बर्तन

इसके आकारो के अन्तर्गत अनेक प्रकारो के कटोरे, कुडे, टोंटीदार कटोरे, ट्यूलिप-आकार के बर्तन जिनमे छिद्रित आधार है, थाम-पर-थालिया, ऊची गर्दन वाले बर्तन तथा सचय-पात्र हैं।

काल-३

काल-२ की अधिकाश बनावट तथा आकार इस काल मे निरन्तर बने हुए हैं। एक उल्लेखनीय नया आकार है

१ बोतल के आकार के अण्डाकार पिण्ड युक्त फ्लास्क (दासगुप्त, १९६६)।

आन्ध्र, मद्रास, मैसूर

अवस्था-१

आद्यतम मृद्भाण्डो के पाच उपवर्ग हैं

(क) फीका भूरा

(ख) भूरा बर्तन

(ग) भूरा बर्तन, प्रदहन के बाद गेरुवे रगचित्रण के साथ

(घ) बादामी बर्तन

(ङ) पाडु-लेपदार बर्तन

ये सभी बर्तन चाक अथवा वर्तन-स्थाम के बिना, हाथ से तैयार किये जाते थे। चिकनी मिट्टी स्वच्छत अच्छी तरह घोटी हुई होती थी, तथा यह अवश्य ही समीप के तालाबो से एकत्र की जाती होगी, जैसा हम लोगो ने टेक्कलकोटा मे देखा। इसमे स्फटिक का चूर्ण मिलाया जाता था, जो खासकर

आसानी से उपलब्ध स्फटिक के ढेलो को पीसकर अथवा बारीकी से छानी गयी बालू को मिलाकर बनाया जाता होगा। इसमे अबरख भी है। ये दोनो ही बर्तनो की सतह को चमकीला बनाते थे (नागराज राव तथा मलहोत्रा, १९६५, पृ ३६)।

पूरी ऊपरी सतह तथा भीतर की सतह का कुछ अश (जहा तक हाथ पहुच सकता था) पत्थर अथवा हड्डी से रगडकर चिकना किया जाता था। रगडकर चिकना करना अवस्था-२ मे कम होता था।

फीके भूरे तथा पाडु पात्र मे किसी प्रकार का लेप लगाया जाता था, यद्यपि इसकी वास्तविक प्रकृति का पता नही लगा है। उदाहरणार्थ, अहाड मे रुक्ष बादामी, भूरे तथा फीके लाल बर्तनों की सतहे खुरदरी अथवा विषम मिलती है। ऐसा मालूम पडता है कि ऐसा चिथडे अथवा घास और स्फटिक अथवा बहुत बारीक बालू के सदृश किसी घर्षक से किया जाता था।

नलीदार अथवा पीछे की ओर मुडी हुई टोटियो को ल्यूट से जोडने की तकनीक पर दक्षता थी, जिससे सतह पर कोई चिन्ह नही छूटता था।

मूठ तथा पकड अजीब तरीके से बनाये जाते थे। ये खासकर इस उद्देश्य से बनाकर बर्तन मे नही जोडे जाते थे, बल्कि जब किसी बर्तन की नेमि अशत टूट जाती थी तो बगल और किनारो को घिसकर एक प्रकार की पकड अथवा मूठ बना दी जाती थी (नागराज राव तथा मलहोत्रा, १९६५, पृ ३६, चित्र २०१)।

बडे-बडे सचय-पात्र (अस्थि-कलश) सम्भवत खजूर के पत्तो की चटाइयो पर भवन-निर्माण विधि से बनाये जाने थे। यह नेवासा मे भी देखा जाता है।

अवस्था-२

अवस्था-२ मे प्राय समाधियो से सम्बन्धित काले-तथा-लाल पात्र मिलते है। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इन्हे वर्तन-स्थाम पर बनाया जाता था (ऑलचिन, १९६०)। विरल अवस्थाओ मे ही इनका भीतरी भाग उजले रग मे चित्रित मिलता है। यहा पावदार तथा छिद्रदार बर्तनो का उल्लेख प्रासगिक होगा। बर्तन की कच्ची अवस्था मे ही ये छिद्र बनाये जाते थे जिनसे मिट्टी दूसरी तरफ निकल गयी है, तथा छिद्रो मे भी एकरूपता नहीं है।

पाव सावधानीपूर्वक ल्यूट से जुडे दीखते है।

हाल मे आध्र के पत्पडु से प्राप्त एक रगचित्रित बर्तन के हस्तनिर्मित होने का दावा किया गया है। इसका पूर्णतर वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है (शर्मा, १९६७ तथा राव, १९६८)।

बाद मे, यदि पहले नही तो ईसा के लगभग पाच सौ वर्ष पूर्व, एक सुदर काला-तथा-लाल पात्र अथवा ऐसा बर्तन, जिसका ऊपरी भाग काला तथा बीच का हिस्सा अथवा पेंदा लाल होता था, लोहे के आने के साथ अस्तित्व मे आया। अभी तक विश्वास किया जाता है कि यह काला-तथा-लाल बर्तन प्राय कुम्हार के सामान्य भट्ठे मे उल्टा रख कर पकाने की तकनीक का परिणाम है।

जो भी हो, मजूमदार (१९६८) द्वारा किये गये प्रयोग से ज्ञात होता है कि उल्टा रखकर पकाने की तकनीक का विचार विशुद्ध सैद्धान्तिक है। इस प्रकार के बर्तन तैयार करने के तीन तरीके पाये गये हैं जो इस प्रकार हैं

१ एक बार प्रदहन . इसमे एक ही भट्ठे के अन्दर भीतरी सतह तथा बाहरी सतह का नेमिवाला भाग, दोनो, अपचयन की अवस्थाओ के अधीन रहने के कारण काले बन जाते हैं, तथा शेष भाग आक्सीकृत अवस्था के अधीन रहने के कारण बाहरी भाग को लाल बना देता है।

२ दोहरा प्रदहन (क) पहले सम्पूर्ण बर्तन को आक्सीकृत भट्ठे मे सामान्य ढग से पकाया जाता है, इस प्रकार पूरा बर्तन लाल हो जाता है। ठडा करने के बाद इसे पुन पकाया जाता है जिसमे सतह का एक हिस्सा (भीतरी भाग तथा बाहरी भाग का कुछ हिस्सा) अपचयन की अवस्थाओ मे तथा बर्तन का लाल हिस्सा आक्सीकृत अवस्थाओ मे रखा जाता है। (ख) इस बार सम्पूर्ण बर्तन अपचयन अवस्था वाले भट्ठे मे काला बना दिया जाता है और दूसरी बार पकाने के समय सतह का एक भाग अपचयन अवस्थाओ के अधीन तथा शेष भाग आक्सीकृत अवस्थाओ के अधीन रखे जाते हैं।

इस प्रकार का काला-तथा-लाल बर्तन केवल दक्षिण भारत की ही नही, बल्कि प्रायद्वीपीय भारत की भी सभी प्रारभिक ऐतिहासिक सस्कृतियो का अभिन्न अग है। इसके अतिरिक्त, काले-और-लाल बर्तन सम्पूर्ण उत्तरी राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पश्चिमी बगाल मे चित्रित भूरे बर्तन के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन है।

लेकिन इससे भी पहले, श्वेत रग मे चित्रित काले-तथा-लाल बर्तन रगपुर अहाड (दक्षिण पूर्वी राजस्थान), कयथा (मध्य प्रदेश) और लोथल तथा (सौराष्ट्र) मे प्राप्त हुए हैं।

इन बर्तनो का विस्तृत वैज्ञानिक परीक्षण किये बिना यह कहना कठिन है कि किसमे कौन-सी विशेष तकनीक प्रयुक्त हुई है।

अब तक बर्तनो के प्रकारो को सास्कृतिक सादृश्य सबधी निष्कर्ष निकालने के लिए काम मे लाया गया है, लेकिन ये भी अपर्याप्त हैं, तथा सच्चे वैज्ञानिक अनुसधानो का स्थान नही ले सकते।

संभवत इस क्षेत्र मे प्राप्त आद्यतम मृद्भाण्ड अहमदनगर जिलान्तर्गत दैमाबाद का है। यह अभी तक पूर्णत प्रकाश मे नहीं आया है, लेकिन आन्ध्र-मैसूर मृद्भाण्ड से सम्बद्ध दीख पडता है। यदि ऐसा है, तो सभव है कि यह समान तकनीक से बना हो।

इसके बाद का जो मृद्भाण्ड मिलता है, वह इसी जिले के प्रकार-स्थलो के नाम पर जोर्वे-नेवासा भाण्ड कहलाता है। यह सम्पूर्ण पश्चिमी महाराष्ट्र मे मिलता है, साथ ही इसका विस्तार मध्य प्रदेश तथा मैसूर मे पाया जाता है।

इस प्रकार की प्रकृति वाले मृद्भाण्ड की सतह सामान्यत चटाई के समान है जिस पर साधारणत कुछ ज्यामितिक अगीभाव (मॉटिफ) स्कन्ध के चारो ओर काले रग मे चित्रित हैं। कभी-कभी सतह को अधिक चिकना बनाकर चमकाया जाता होगा, तथा लेप अपेक्षाकृत अधिक कातिमय अथवा मोटा होता होगा। यह चाकनिर्मित है, तथा इस पर उभरे रेखाचिह्नो की एकरूपता से लगता है कि यह तेज चाक पर बनाया गया है (यद्यपि यह कहना सभव नही कि यह चाक हाथ से घुमाया जाता था अथवा पैर से)। मिट्टी चिकनी तथा अच्छी तरह घोटी हुई होनी थी तथा उसमे थोडे चूने और बालू का मिश्रण रहता था। लेकिन, सर्वोपरि यह अच्छी प्रकार पकाया जाता था—किस तरह, यह हम नही जानते क्योकि बाहरी सतह पर धब्बे नही है। कोर एकरूपत लाल है (यद्यपि हडप्पा के बर्तन की तरह नही), और ठोकने पर बर्तन से टनटनाहट की आवाज निकलती है। पूना जिले के इनामगाव मे हुए उत्खनन (१९६८-६९) मे एक भट्ठा मिला है। यह उत्तर जोर्वेयुगीन है। भट्ठा वैसा ही बना हुआ है जैसा आधुनिक कुम्हार के घर मे बहुधा देखा जाता है जहा फूटे हुए बर्तन एक दूसरे के ऊपर रखे रहते हैं। बीच वाली जगहे राख से भरी हैं।

जोर्वे-नेवासा मृद्भाण्ड की दूसरी विशिष्टता कलशनुमा बर्तन—सामान्यत नलीदार टोटीयुक्त लोटे—की प्रधानता है। ये टोटिया अलग से बनायी जाती थी और बर्तन के अग अथवा उदर की गहरी जगह पर ल्यूट से सावधानीपूर्वक जोड दी जाती थी।

जोर्वे-सरचना (मजूमदार, १९६८) का वैज्ञानिक विश्लेषण निम्नाकित है

१ बर्तन जोर्वे

२ क्षेत्र नेवासा

३. काल ताम्रपाषाण

४ रग (क) ऊपर प्रबल आभा

(ख) नीचे फीके लाल से लाल तक

(ग) कोर मुन्सेल काई आई ओ आर

५ **कड़ापन** ४/५ मोह का माप (स्केल), अधिकाश क्षेत्र के लिए

६ **लेप** पतला

७ **चाक-चिन्ह** परिलक्षित

८ **पालिश** उपस्थित, अकातिमय

९ **प्रदहन** आक्सीकरण, पूर्ण, धातु की कुण्डली

१० **रगचित्रण** उपस्थित, काली/बादामी/बैंगनी आभाए

११ **सम्मिश्रण सामग्री** बालुकामय सामग्री, पौधो के अवशेष से रहित (विस्तृत विवरण के लिए सकालिया तथा देव, १९५५ मे नायक, सकालिया तथा अन्य, १९६० मे देव तथा अन्सारी देखें)।

गुजरात

कच्छ सहित गुजरात मे सिन्धु अथवा हड़प्पा सभ्यता के मृद्भाण्ड आद्य-तम हैं, यद्यपि लोथल मे निचली सतहो से "अबरखी पात्र" प्राप्त हुआ है। इस पात्र का विस्तृत अध्ययन उपलब्ध नही है। सिन्धु सभ्यता का यह पात्र बन्द भट्ठे मे पकाया गया है और इसमे वे ही लक्षण मिलते हैं जो सिन्धु के मृद्भाण्डो मे। इनमे एक काला-तथा-लाल बर्तन भी सम्मिलित है, लेकिन उसका आकार सिन्धु सभ्यता के बर्तन के सदृश्य है। इसका वैज्ञानिक अध्ययन नही हुआ है।

(थ) चमकदार लाल बर्तन

बाद के काल मे रगपुर के अन्तर्गत द्वितीय ख-ग तथा तृतीय कालो मे एक विशिष्ट मृद्भाण्ड मिला है जो अपने सतह-निरूपण तथा आकर्षक आकार के लिए विख्यात है। यह चाकनिर्मित है, तथा चमकदार लेप इसका विशिष्ट लक्षण है, जिसमे गहरे तथा सतरे के रग जैसी लाल आभाए हैं। मिट्टी अच्छी तरह घोटी हुई नही है, तथा इसमे कंकडिया पायी गयी हैं जिससे दरार-युक्त सतह सीधी तथा रुक्ष हो गयी है। मध्यम तापक्रम मे पके होने के कारण कोर बहुधा धूमित है। रगड़कर चिकनी की हुई चमकीली सतह पर काले रग मे रूपाकन चित्रित है। रग का इसके अग के साथ विलयन नही दीखता। चित्रण ज्यामितिक के साथ रूढ शैली मे अकित पशुओ के हैं।

बर्तन के आकारो मे पिचके पार्श्ववाला कटोरा, मूठवाला कटोरा, थाम-पर-थाली, कोनदार स्कधयुक्त थाली तथा ऊंची गर्दन वाला मर्तबान सम्मिलित हैं।

भारत के पुरातात्विक रसायनविदो के अनुसार, कातिमय सतह बारीक तथा समरूप चमक लाए जाने का परिणाम है, जिस पर बारीकी से घोटे हुए लाल गेरुवे रग का लेप लगाया जाता था। सम्भवत, अच्छी अवस्था में बर्तन को हेमेटाईट के टुकडो से रगड कर चमकाया जाता था, जिससे निकली लौह आक्साइड की बहुत ही महीन धूल सतहो पर दृढता से चिपक जाती थी। इसके बाद बर्तन को आक्सीकृत वातावरण मे पकाया जाता था। काले रग मे की गयी अलकृति स्पष्ट पकाने के बाद की है, क्योकि काला रग गर्मी के कारण बुरादे के जमाव का कोई साक्ष्य नही दिखाता और न लाल सतह को दृढतापूर्वक पकडता है (राव, १९६३, पृ १३६, मे बी बी लाल तथा चित्र ३४ और फलक XXII)।

चमकदार लाल बर्तन के कुछ खण्ड सुदूर दक्षिण मे पूना तथा सुदूर उत्तर मे उदयपुर मे पाये गये हैं।

(द) *सारांश*

भारत के ग्यारह प्रमुख प्रमडलो से प्राप्त साक्ष्यों का समाकलन करते हुए हम यह कह सकते हैं कि मृद्भाण्ड कला की सभी ज्ञात तकनीकें प्रागैतिहासिक भारत मे ४००० ई पू और ५०० ई पू के बीच ज्ञात थी, यद्यपि कलई लगाने की कला, जो हडप्पा काल में ज्ञात थी, किसी कारण से विकसित नही हो पायी।

हम व्यापक रूप से विकास के समान चरण देखते है (१) हाथ से मृद्भाण्ड बनाने की दो अथवा तीन पद्धतिया, यथा (क) टोकरी साचा, (ख) कुण्डलन तकनीक अथवा वलय तकनीक, (२) आदिम चाको का प्रयोग, जैसे बर्तन-स्थाम, और (३) तत्पश्चात तेज तथा धीरे-धीरे चलने वाले, दो प्रकार के चाको का प्रयोग।

बर्तन बनाने की कला उत्तमता की उच्च कोटि तक पहुच गयी थी, क्योकि साधारण कटोरो तथा थालियो एव छोटे अथवा बडे सचय-पात्रो के अतिरिक्त उच्च कोटि के सुपरिष्कृत बर्तन—जैसे अनेक आकारो तथा प्रकारो के नैवेद्य थाम, मूठदार एव पावदार कटोरे, युग्म बर्तन, कक्षनुमा पात्र, टोटीदार बर्तन, कुछ तो हू ब हू वर्तमान चाय के बर्तन के सदृश, जिनमे अलग-अलग निर्मित भाग सावधानी से जोडे जाते थे—भी बनाये जाते थे। फिर भी, पश्चिम एशियाई मृद्भाण्डो मे सामान्यत मूठदार बर्तनो व चम्मचो का जो लगभग अभाव दिखायी देता है, वह यहा भी परिलक्षित है।

लेप अथवा कलई लगाने की अनेक पद्धतिया, यहा तक कि आरक्षित लेप

की उच्च कोटि की विशिष्ट कला भी ज्ञात थी, यद्यपि आरक्षित लेप केवल सिन्धु सभ्यता के मृद्भाण्डों पर ही दीखता है और वह भी विरल रूप मे।

इन बर्तनो मे से कुछ—विशेषकर बलूचिस्तानी, सिन्धु, सिमेंटरी–एच तथा मालवा एव यहा तक कि दकन के भी—अधिकाशत आग मे पकाने के पहले ही चित्रित किये जाते थे, इसीलिए ये चित्रकारिया आज तक बनी हुई है। इन चित्रकारियो का सावधानीपूर्वक विश्लेषण इन रगचित्रो की कला पर प्रकाश डालता है—यानी विभिन्न प्रकार के ब्रशो और पेंटो के प्रयोग पर (यहा तक कि उन्हे कैसे तैयार किया जाता है, इस पर)। विविध शैलियो के बीच अन्तर भी दिखाया जा सकता है जैसे यथार्थवादी, प्रभावात्मक, रीत्यात्मक अथवा पुरोहिती।

मिट्टी के बर्तन रगचित्रण के अतिरिक्त (१) उत्कर्तित करके, (२) चिपका कर, (३) काटकर, (४) छेदकर, तथा (५) छील कर सजाये जाते थे।

ये सभी पद्धतिया जहा प्रदहन के पहले प्रयुक्त होती थी, वहा केवल एक पद्धति, जिसका नाम आरेखण (ग्रैफिटी) है, मुख्यत बर्तन को आग मे पकाने के बाद प्रयुक्त की जाती थी। यद्यपि आग मे पकाने से पूर्व आरेखण के उदाहरण भी मिलते हैं। उत्कर्तन और आरेखण की तकनीको का पता आद्यतम काल (३५०० ई पू) तक लगाया जा सकता है, जिसके सर्वोत्तम उदाहरण सोथी की प्राक्हडप्पा-संस्कृति मे मिलते हैं, शेष सभी १८०० ई पू के लगभग राजस्थानान्तर्गत अहाड मे सबसे अच्छी तरह देखे जाते है।

प्रदहन अपने उच्चतम स्तर पर, सिन्धु-घाटी की सभ्यता के समय पहुचा, चाहे यह पजाब के अन्तर्गत रोपड मे रहा हो अथवा सौराष्ट्र के अन्तर्गत रगपुर मे। प्रदहन पर जो नियन्त्रण रगचित्रित भूरे बर्तन मे देखा जाता है, वह उल्लेखनीय है। दुर्भाग्यवश, हम यह नही जानते कि ये सुन्दर बर्तन विशिष्ट भट्ठे मे, जिसके मोटे तौर पर बनाये गये दो नमूने बाद मे पाये गये, तैयार किये गये हैं या अन्य प्रकार के भट्ठे पर। इनमे से अधिक पूर्ण नमूना अण्डाकार था। अन्दर से इसका माप ६ फुट × ४फुट ६ इच था। फर्श के किनारे के चारो ओर लगभग ३ ६५ इच व्यास वाले चिमनी के छेद थे। ये खुले भट्ठे हैं, जैसा सिन्धु के मामले मे मैके ने निष्कर्ष निकाला है, और चित्रित भूरे बर्तन के मामले मे हवा के परिचालन पर कुछ नियत्रण स्पष्ट है। किन्तु जब हम उत्तरी काले पालिशदार बर्तन के, जो अद्वितीय है, विषय मे सोचते हैं, तो ये दोनो नगण्य ठहरते हैं, क्योकि जिन सटीक तकनीको द्वारा वह बनाया जाता था, वे अभी भी हमारी समझ से परे हैं।

ख मृण्मूर्तियां

पकी मृण्मय वस्तुओ की चर्चा मृद्भाण्ड कार्य के साथ होनी चाहिए। प्राय छोटी-छोटी वस्तुए—जैसे पशु मूर्तिया, अधिकाशत साडो (वृषभ), मेढो, तथा स्त्रियो की आकृतिया—अनेक प्रागैतिहासिक सस्कृतियो मे पायी जाती हैं। सुविधा की दृष्टि से हम इन्हे मोटे तौर पर निम्न भागो मे रखेंगे

१ सिन्धु अथवा हडप्पा सस्कृति की, तथा

२ हडप्पेतर जिसमे (क) प्राग्हडप्पा तथा (ख) हडप्पोत्तर सस्कृतिया, दोनो सम्मिलित हैं।

आम तौर पर, सभी हडप्पेतर मृण्मूर्तिया, जो उत्तरी एव साथ ही दक्षिणी बलूचिस्तान से मिली है तथा जिनकी तिथि २६०० ई पू और २००० ई पू के बीच है, एक ही साचे मे ठोस रूप से ढली हुई है, अथवा सम्भवत पूर्ण-रूपेण हस्तनिर्मित है। यही बात खास भारत से प्राप्त मृण्मूर्तियो के बारे मे, जिनमे नेवासा से प्राप्त बडी स्त्री-मूर्ति, साथ ही इनामगाव से प्राप्त (१२०० ई पू) पुरुष, स्त्री तथा पशु की छोटी-छोटी मूर्तिया शामिल हैं, सत्य है। ये सभी हाथ से गढी हुई हैं (सकालिया, १९६३, चित्र-१)।

(क) हडप्पा की मृण्मूर्तिया

प्रतिरूपण (माडलिग) की तकनीक

मानव-मूर्तियो के विपरीत, अधिकाश बडी-बडी पशु-मूर्तिया अन्दर से खोखली है। उनमे से कुछ कोर पर बनी लगती हैं, लेकिन किस सामग्री के कोर पर यह कहना अभी तक असम्भव है, क्योकि भग्न मूर्तियो के भीतरी भाग असमतल रहते हुए भी एकरूपत चिकने है। कोर स्पष्टत दहनीय सामग्री की होती थी, क्योकि यह पीछे कोई चिन्ह नही छोडती थी। अभग्न मूर्तियो मे सदा हवा निकलने के लिए छेद रहते है, ये छेद स्पष्टत उन गैसो के निकलने के लिए बने है जो कोर की सामग्री के जलने के फलस्वरूप बनती हैं। कुछ अन्य मूर्तिया साचे मे बनायी जाती थी। साचे की दरारो मे मिट्टी के मोटे पिण्ड की अपेक्षा पतली चादर को दबाकर घुसाना आसान होता है।

नकाब-सदृश चेहरो तथा उत्तम वृषभ को छोडकर, जो सभी निश्चित रूप से साचे मे बने हैं, मानव-तथा पशु मृण्मूर्तिया पूर्णत हाथ से गढ़ी जाती थी (मार्शल, १९३१, १, पृ ३४९ मे मैके)।

अधिक उन्नत प्रतिरूपो मे अनेक प्रकार से विस्तृत विवरण जोडे जाते थे। त्वचा की झुर्रिया उत्कर्तित रेखाओ द्वारा तथा मोटी सिकुडनें मिट्टी की पट्टियो के योग से दिखायी गयी हैं। प्रतिरूपित पशु साधारणत रगचित्रित हैं तथा

छोटे कुत्ते की एक शानदार मूर्ति लाल धब्बो और लकीरो से ढकी है जो आधुनिक डालमेशियन कुत्ते की याद दिलाती है।

व्यावहारिक रूप से सभी मृण्मय प्रतिरूप ऐसी मिट्टी के बनते थे जो पक कर हल्के लाल रग की हो जाती थी, तथा केवल अपेक्षाकृत अच्छे नमूनों मे ही लेप चढा कर सुधार किया जाता था। लेप या तो मक्खनी रग का होता था अथवा गाढे लाल पेंट की कलई से युक्त होता था (मार्शल, १६३१ मे मैके)।

अधिकाश खिलौने पकी मिट्टी के—एक ऐसा तत्व, जिसे छोटा बच्चा भी आसानी से गढकर पका सकता था—बने होते थे।

गोल मृण्मय झुनझुने, जिनके अन्दर मिट्टी की छोटी-छोटी गोलियां रहती है, मोहेजोदडो के सुविख्यात है। प्राप्त नमूनो मे से सर्वोत्तम २.५५" व्यास का हल्के लाल भाण्ड (झुनझुने) का है जो लाल पेंट मे समानान्तर वृत्तों से अलकृत है।

सम्भवत, दहनीय कोर को चारो ओर मिट्टी से ढककर झुनझुने बनाये जाते थे, जिनके केन्द्र मे पकी मिट्टी की गोलिया ध्वनि उत्पन्न करने के लिए रख दी जाती थी। प्रत्येक अवस्था मे वे हस्तनिर्मित है, साचे मे ढले नही, तथा बिना किसी लेप के ही सामान्यत वे सुपरिष्कृत हैं। ये सभी स्तरो मे पाये गये हैं। किसी भी झुनझुने मे कोर के जलने से उत्पन्न गैसो के निकलने के लिए कोई छिद्र नही होता था। सम्भवत भाण्ड की छिद्रदार प्रकृति के कारण गैस आसानी से निकल जाती होगी, शायद यही कारण था कि इन खिलौनो पर लेप नही चढाया जाता था।

(ख) पहिये वाली सवारी

मोहेजोदडो के अनेक भागो तथा अन्य हडप्पा-सस्कृति वाले स्थलो से पर्याप्त सख्या मे मृण्मय पहिये प्राप्त हुए हैं। प्रथम दृष्टि मे, इनसे तकली का भ्रम होता है, लेकिन वे, निस्सन्देह, गाडियो के पहिये तथा दूसरे खिलौने हैं।

किश से प्राप्त रथ के कुछ मृण्मय पहिये मोहेजोदडो से प्राप्त पहियो से बहुत मिलते हैं, अन्तर मात्र यही है कि सुमेरीय पहियो मे, जैसा सिन्ध मे देखा जाता है, पहिये की एक बगल मे एक हब के स्थान पर दोनो बगलो मे उन्नत हब होते थे। यह ज्ञात हुआ है कि अरेदार चित्रित मृण्मय गाडी का पहिया रोपड मे मिला था। दूसरा दृष्टान्त प्रकाश से प्राप्त हुआ है (थापर, १६६७, फलक XXVI, ए, १)।

हम लोग निश्चित रूप से जानते हैं कि सुमेरीय गाडियो के पहिये एक

से अधिक काष्ठ-खण्डो से बनते थे, तथा सिन्धु घाटी सभ्यता द्वारा प्रयुक्त सवारियों के पहियो की बनावट अधिकतर उसी प्रकार की होने की अवश्य कल्पना करनी चाहिए, खासकर इसलिए कि आधुनिक सिन्धी गाडी के पहिये सुमेर के उन पहियो मे बहुत अधिक मेल खाते हैं, तथा उनकी ही तरह वे धुरी मे लगाये जाते थे जो पहिये के साथ घूमती थी ।

ग मूर्तियां (स्कल्पचर्स)

सिन्धु सभ्यता से प्राप्त सभी मूर्तिया पत्थरो, भूरे तथा पीले चूनापत्थर, एलबास्टर तथा एक मामले मे सिलखडी (स्टीटाइट) से बनी हुई हैं ।

सम्प्रति यह विवाद का विषय है कि उनके चेहरे अधिक सजीव दिखने के लिए पेंट किये जाते थे अथवा किसी अन्य कारण से । उनकी चिकनी सतहो के ऊपर यदि रग रहे भी होगे तो उस स्थल की खारी मिट्टी मे बहुत पहले ही लुप्त हो गये होगे । लाल पेंट के चिन्ह सजावट के रूप मे मूर्ति के दुशाले के तिपतिये आभूषणो के भीतरी भागो मे पाये गये हैं, लेकिन सम्भवत केवल लिबास (पोशाक) रगा जाता रहा होगा । इस विशेष मामले मे मोटी लेई का प्रयोग किया जाता था, न कि केवल कलई का ।

कुछ दूसरे लक्षण मोहेजोदडो की मूर्ति-कला की आदिम प्रकृति का सकेत देते हैं, तो भी मूर्ति कला तब तक इतनी विकसित हो गयी थी कि शरीर मे कुछ अगो को अलग किया जा सकता था (मार्शल १९३१, C, १-३) ।

इन मूर्तियो का एक उल्लेखनीय लक्षण मुखाकृतियो की असमानता है, जिससे कहा जा सकता है कि ये प्रतिकृति के निमित्त बनायी गयी थी । उनके प्रकार निश्चय ही एकरूप नही हे, जैसा देव मूर्तियो मे अपेक्षित होता है ।

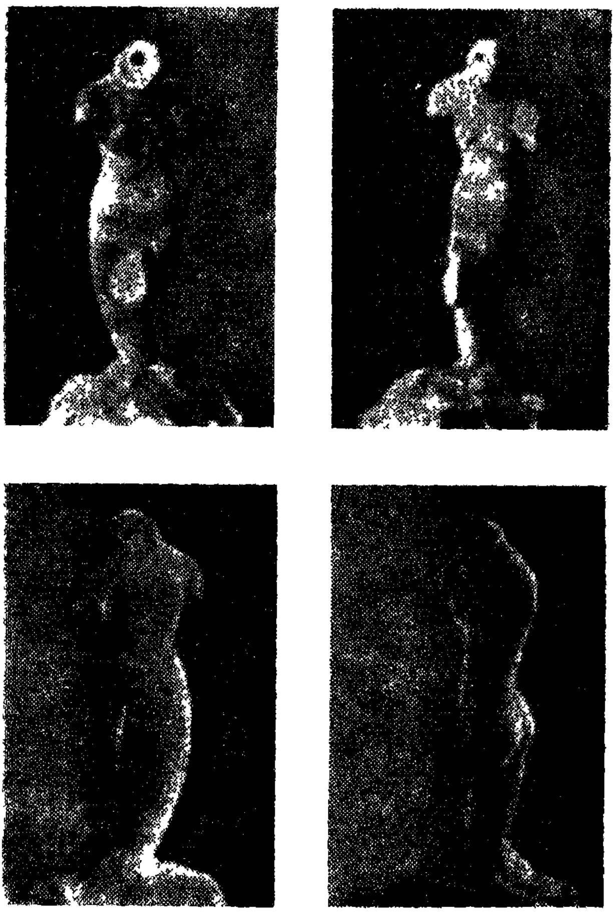
मूर्तियो से पृथक, मोहेजोदडो के शिल्पियो को पत्थर तराशने का अल्प अनुभव था । यह तथा स्वत पत्थरो का अभाव, पत्थरो द्वारा मानव-आकृति की अभिव्यक्ति मे उनकी असमर्थता के पर्याप्त कारण हैं (मार्शल, १९३१, १, पृ ३६०-३६४ मे मैके) ।

(क) सर्वदिक् मूर्ति

एकमात्र दूसरी सर्वदिक् मूर्ति जो ध्यान आकृष्ट करती है, मोहेनजोदडो से प्राप्त कासे की नर्तकी है (मार्शल, फलक XCIV, ६-८) । यह स्थूल कारीगरी की छोटी मूर्ति है जिसके बाहु और पैर विषमत लम्बे हैं । सचमुच यह करीब-करीब व्यग्यानुकरण है । लेकिन एक अच्छे व्यग्यानुकरण की तरह यह युवा आदिवासी नॉच-बालिका का स्पष्ट प्रभाव पैदा करती है—

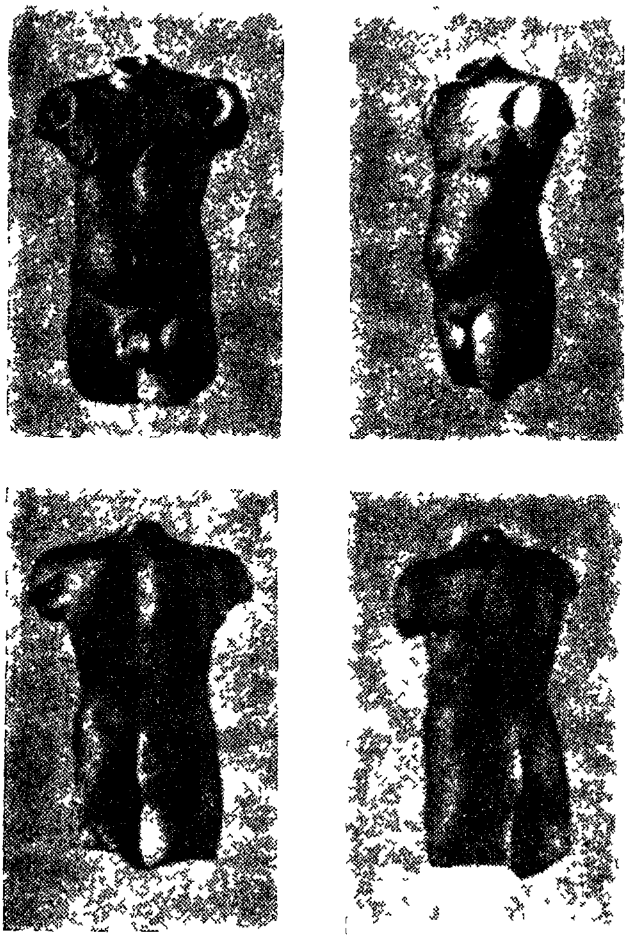
उसका हाथ अर्द्ध-धृष्ट भाव मे कूल्हे पर टिका है, और पैर थोडा आगे उठे हुए हैं, वह पैरो से पुन -पुन संगीत-स्वर निकालती-सी लगती है। यद्यपि यह मूर्ति छोटी है, तथापि पीठ, कूल्हो तथा नितम्बों का गठन बहुत प्रभावपूर्ण है तथा स्पष्ट दोषो के होते हुए भी यह कलाकार की गहरी परख को प्रकट करती है।

दो मूर्तियो में से एक चूनापत्थर (ककड) की बनी है (चित्र-८) तथा दूसरी



चित्र-८
हड़प्पा से प्राप्त एक स्त्री-मूर्ति जिससे सर्वदिक् मूर्ति बनाने
की तकनीक का दृष्टांत मिलता है।

बलुआ पत्थर की (चित्र-९) । गर्दन और कन्धो मे मस्तक और बाहो को, जो अलग-अलग टुकडों में बनाये जाते थे, जोडने के लिए छिद्र हैं, इसके अतिरिक्त, दोनों में स्तनो की ढेपनिया स्वतन्त्र रूप से बनी तथा सीमेंट से जुडी हैं । यह विश्वास किया जाता है कि यह तकनीक ऐतिहासिक काल के प्रस्तर मूर्तिकारो के बीच— चाहे वे भारत-यूनानी शैली के हो अथवा अन्य शैली के—बेजोड है ।



चित्र-९

हडप्पा से प्राप्त नर प्रतिमा का धड जिससे सर्वदिक् मूर्ति बनाने की तकनीक का पता चलता है ।

इसमे तकनीक का एक दूसरा पहलू भी महत्वपूर्ण है। हड़प्पा से प्राप्त लाल पत्थर की मूर्ति (मार्शल, फलक-X) मे प्रत्येक कन्धे के सामने बड़ा गोलाकार गड्ढा है, जिसके मध्य मे छोटा गोल विच्छिन्न उभार है (चित्र-९)। ये गड्ढे नलीदार बरमे से बनाये जाते थे, तथा नलीदार बरमा प्रागैतिहासिक काल में (यद्यपि किसी भी हड़प्पेतर ताम्रपाषाण संस्कृति मे यह अभी तक नहीं प्राप्त हुआ है), प्रस्तर-कर्मियों द्वारा प्राय प्रयुक्त किया जाता था। लोथल मे तांबे/कांसे का टेढा बरमा मिला है (देखें चित्र-१०)।

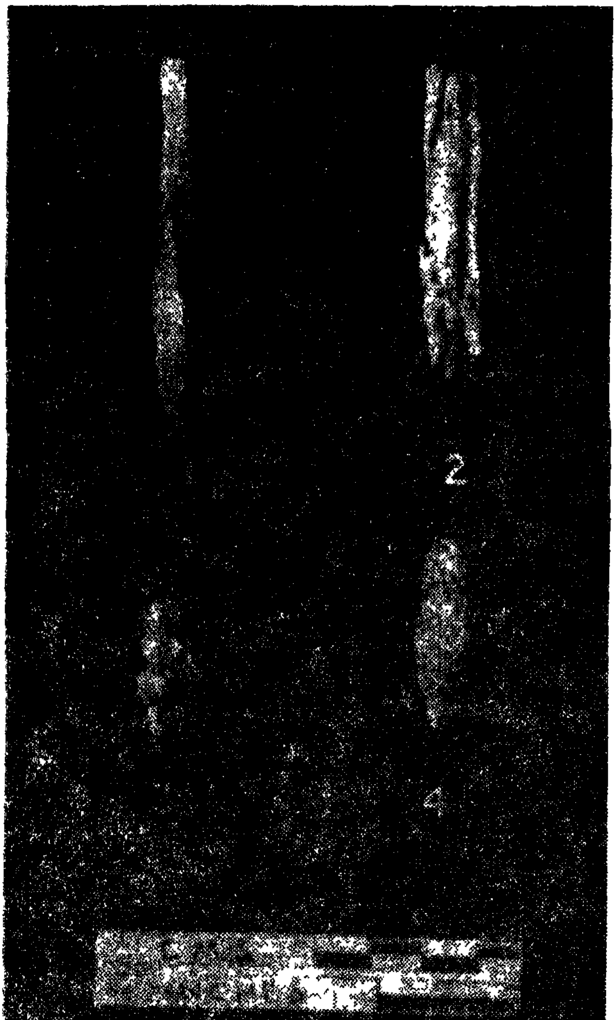
तीसरा, जहा तक शैली का सम्बन्ध है, लाल पत्थर के धड का निरूपण इससे सरलतर तथा अधिक प्रत्यक्ष शायद ही हो सकता था। मुद्रा सामने की है, कन्धे पीछे की ओर तथा उदर थोडा उभरा हुआ है, लेकिन इस छोटी मूर्ति की सुन्दरता उसके मासल भागो के परिष्कृत तथा अद्भुत रूप से सच्चे गढन मे है। उदाहरणार्थ, चित्र-९, सी तथा डी देखें—नितम्बो का सूक्ष्म चौरसपन तथा जघास्थि के पिछले भाग के उच्चतर रीढ़ो के प्रवीणता से बनाये गये छोटे-छोटे गड्ढे। जो भी हो, इस मूर्ति की समकक्ष मूर्ति ऐति-हासिक काल की भारतीय मूर्तियों मे नही मिलती।

हम लोग निश्चित रूप से जानते हैं कि सिन्धु घाटी का उत्कीर्णक पशुओ की आकृतियो के चित्रण मे यूनानी (तकनीक) की प्रत्याशा कर सका था तथा यदि हम चित्र-९ की मूर्ति की, मसलन मुहर स ३३७ से तुलना करें तो यह अवश्य मानना पडेगा कि इन दोनो मूर्तियो के बीच समग्र रूप से "स्मारकीय" निरूपण तथा शारीरिक विवरणो की परिपक्वता के मामले मे, कोई निश्चित सम्बन्ध है। अनुभवी मूर्तिकारो के मतानुसार जो कलाकार सम्बन्धित मुहर को उत्कीर्ण कर सकता था, उसे मूर्ति के उत्कीर्ण मे खास दिक्कत नही हुई होगी, पुरातत्वविद् कदाचित अलग दृष्टिकोण अपनायेंगे तथा वे कोई मत प्रकट करने की जगह भावी अन्वेषण की प्रतीक्षा करना चाहेंगे।

अनेक पशु-मूर्तिया लोथल तथा कालीबगन एव सिन्ध के अन्तर्गत कोट दिजी से मिली हैं, लेकिन इन हड़प्पा-सस्कृति वाले स्थलो मे से किसी से भी हड़प्पा और मोहेंजोदडो से प्राप्त मानव-मूर्ति के सदृश मानव-मूर्ति अभी तक नही मिली है। हाल के एक लेखक, जो कलाकार होने का दावा करते हैं, इस लाल पत्थर की मूर्ति को अधिक महत्वपूर्ण नही मानते, यद्यपि वे यह स्वीकार करेंगे कि यह आयतन मे तथा गठन-कला मे एक प्रयोग है (गुहा, १९६७, पृ १७)।

गुहा भी कास्य नर्तकी को, खासकर उसके मासलतारहित अगो का, अधिक महत्व नही देते और भूल जाते हैं कि नृत्य-नाटक की सच्ची नर्तकी का

पतली होना आवश्यक है, उसे यह सावधानी बरतनी होती है कि उसकी हड्डियो पर अधिक मास और चर्बी न एकत्र होने पाये। तथापि, उन्हें "वक्र



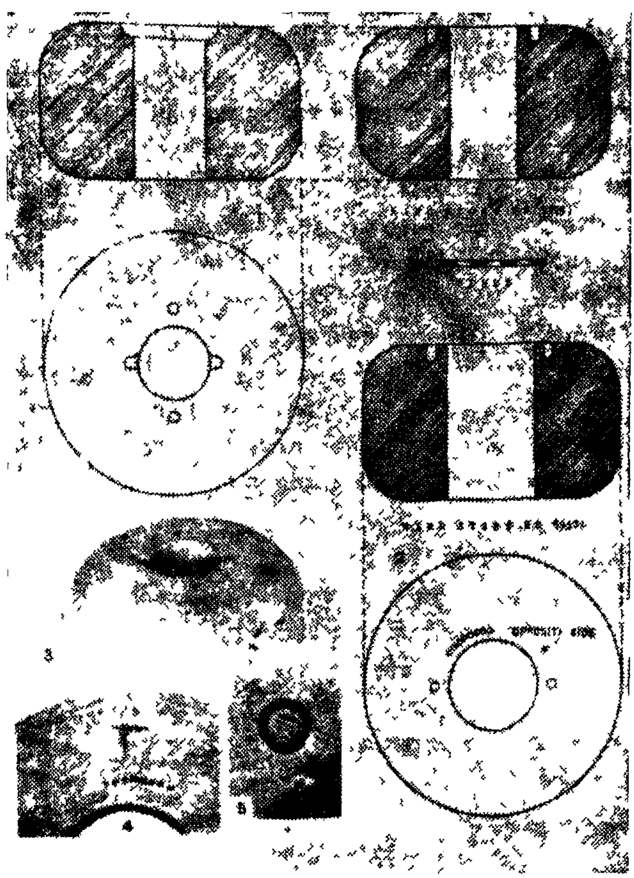
चित्र-१०

कास्य बरमे लाथल मे प्राप्त (एस आर राव के अनुसार)

प्रतिकूल वक्र, कोण तथा लम्ब की स्पष्ट योजना में ,,तकनीकी प्रवीणता की दक्षता'', स्वीकार करनी पडी, पर वह मूर्ति मे अपेक्षाकृत गहरे संवेदन की अनुपस्थिति का अनुभव करते हैं।

(ख) उत्कीर्णन

उत्कीर्णन की कला सिन्धु घाटी सभ्यता की तथाकथित मुहरो मे सबसे



चित्र-११

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त अगूठी के पत्थर जिनमे नलीदार बरमों का उपयोग दीख पड़ता है। मैके, १९३८, फलक CXLIV ।

अच्छे ढग से प्रदर्शित है क्योकि अधिकाश मुहरें एक मुसण पत्थर, सिलखडी की बनी हैं, यद्यपि कुछ ताबे की भी हैं।

सिलखडी को सावधानीपूर्वक, सम्भवत आरी से, चीरा जाता था तथ। बाद मे उत्कीर्णक अथवा छेनी-सदृश उपकरण से तराशा जाता था। तत्पश्चात मुहर ौपर क्षार लगाकर आग मे पकाया जाता था। इससे इन्हे चमकदार लेप की आभा मिलती थी जिससे वे देखने मे सुन्दर तथा साथ ही अधिक टिकाऊ हो जाती थी।

उत्कीर्णन मे चित्रलिपि तथा साथ ही अनेक पशुओ के चित्रण हैं। ये शब्द के सच्चे अर्थ मे उत्कीर्ण मूर्तिया नही हैं (गुहा, १९६७, पृ २४), क्योकि जिस सामग्री पर ये तराशी गयी हैं वह अपेक्षाकृत मुलायम है, न कि कडी।

एलबास्टर सदृश मुलायम पत्थर के बने छोटे छोटे प्याले तथा शृगार पात्र नलीदार बरमे से काटे अथवा चीरे जाते थे। ये बरमे धातु की नली अथवा खोखले सरकडे या बास के टुकडे के हो सकते थे तथा बारीक बालू से रगडे जाते थे (मैके, १९३८, १, पृ ३२३)। इन निष्कर्षों की पुष्टि निम्न तथ्यो से होती है

(१) नलीदार बरमो द्वारा बनाये गये छिद्र मे अब तक कोरयुक्त वस्तुओ की उपस्थिति।

(२) नलीदार बरमे का प्रयोग करने वालो द्वारा छोडी गयी कोर (मुलायम उजले एलबास्टर के दो कोर, एक १ ३ इच लम्बा तथा १ २२ इच व्यास का, तथा दूसरा १ ७५ इच लम्बा तथा १ ३२ इच व्यास का, दिखाये गये हैं)। (देखें चित्र-११)।

(३) नलीदार बरमे (देखें चित्र-१२)।

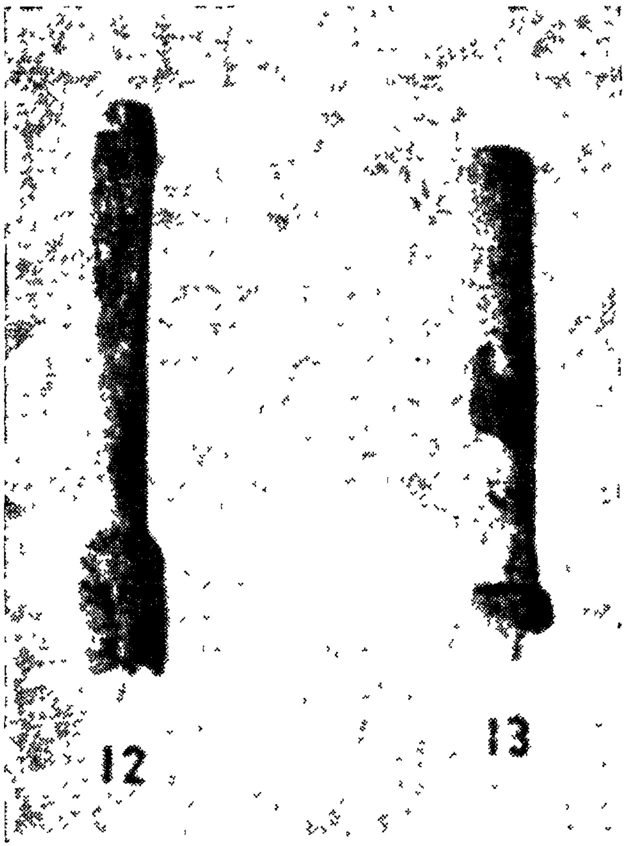
मैके पत्थर और फेएन्स के इन बर्तनो को बनाने की तकनीक के सम्बन्ध मे आगे मनोरजक टिप्पणी करते हैं। इन बर्तनो मे से कुछ दो या तीन टुकडो मे बनाये जाते थे। बाद मे ये जोड दिये जाते थे। प्राचीन मिस्र मे इसी प्रकार की तकनीक प्रचलित थी। इस तरह के प्रचलन का कारण था बर्तन को भीतर अधिक खोखला रखना, लेकिन मुह को सकीर्ण रखना जिससे अन्दर की चीजें सूखने न पायें (मैके, १९३८)।

घ. पत्थर के बर्तन

बहुसख्यक लम्बे मर्तबान खराद पर बनाये जाते थे, जैसा कि उनके आकारो की उल्लेखनीय नियमितता से प्रकट होता है। खराद का काम सभवत धनुष और डोरी से किया जाता था।

बर्तन का भीतरी भाग सभवत खास आकार के छेदको मे खोखला किया

जाता था(मार्शल, १९३१, फलक CXXX, ३५,* तथा मैके, १९३८, पृ ३१७)। बाद में ऊपरी भाग का आकार स्थूल रूप से बनाया जाता था और खराद पर घुमाया जाता था अथवा बर्तन अन्तिम काट-छाट के लिए घूमते हुए क्षैतिज चाक पर उलट कर रख दिया जाता था (मार्शल, १९३१, CXLIII, २)।



चित्र-१२
मनके बनाने वाले नलीदार बरमे। ताम्र/कांस्य। मैके, चन्हुदड़ो, फलक XIII,
१३, १२-१३

* यह संदर्भ गलत मालूम पड़ता है क्योंकि इस फलक का दृष्टांत एक बड़ी अण्डाकार वस्तु है जिसके छोटे पार्श्वों मे (उत्तल) किनारे हैं, तथा दोनों लम्बे पार्श्वों में खांचे हैं।

ङ मनके

सभी आद्यैतिहासिक संस्कृतियों तथा यदा-कदा उत्तर प्रस्तरयुगीन संस्कृतियो से मनके प्राप्त हुए हैं जो प्रागैतिहासिक मानव के हारो, मालाओ तथा झुमकों मे प्रयुक्त मुख्य अलकारो मे से एक थे। इन मनको में

(क) हड्डिया, दात तथा गजदन्त,

(ख) शख,

(ग) पत्थर (प्राय अकीक, कार्नेलियन, सज्जी तथा फेएन्स जैसे अर्द्ध मूल्यवान) के मनके सम्मिलित थे।

(क) हड्डियां, दांत तथा गजदन्त

यूरोप तथा पैलेस्टाइन के ऊपरी पाषाणकालीन स्थलो से प्राप्त साक्ष्य के अनुसार मानव द्वारा प्रयुक्त आद्यतम उपकरण दात हैं। हड्डियो तथा दांतों के प्रयोग मे अधिक कारीगरी की आवश्यकता नही थी, बस जिनमे प्राकृतिक कोटर नही रहता था उनमे एक छेद कर दिया जाता था। अब तक भारत मे ऐसे नमूने प्राप्त नहीं हुए हैं। यह छेद किसी प्रस्तर-पिंड अथवा फलक पर बनी पाषाण-नोको से बनाया गया होगा।

हाथी दांत के कुछ मनके हडप्पा से (वत्स, १९४०, 1, पृ, ४३३) तथा हाल ही मे पूना जिलान्तर्गत इनामगाव नामक ताम्र-पाषाणकालीन स्थल से प्राप्त हुए हैं।

(ख) शख-सीपिया

शख-सीपियो से बने मनको मे आद्यतम मनके सभवत गुजरात के अन्तर्गत लघनाज नामक उत्तर-पाषाणकालीन अथवा प्रारम्भिक नव-पाषाण-कालीन स्थल से मिले हैं, जहा पैलेस्टाइन के अन्तर्गत माउन्ट कार्मेल तथा साइप्रस के अन्तर्गत खिरोकिटिया के समान ही, मानव ने शखो को यथोचित आकार मे काटा या तोडा तथा विभिन्न आकारो के मनके बनाये। लघनाज के नमूनो का काल निर्धारण कार्बन-१४ पद्धति के अनुसार हो सकता है तथा तुल्य संस्कृतिया इसकी तिथि २००० ई पू निर्धारित करती हैं (सकालिया १९६५, तथा अग्रवाल और अन्य, १९६९, पृ १८८)। बाद मे ऐसे मनके रगपुर मे हडप्पा-संस्कृति वाले स्तरो से मिले (राव, १९६३, पृ १४७, फलक XXXVI, ३५ जिन्होने इन्हे ऐमोनाइट बताया)। इन मनको को केवल सावधानी से काटना भर होता था, इसके अलावा किसी और कला अथवा दक्षता की आवश्यकता नही होती थी। और मानव ने इन्हे अवश्य ही सूक्ष्म प्रस्तर-ब्लेडो की सहायता से काटा होगा।

मानव ने बड़े-बड़े शखो से, जिन्हे चक-शख कहते हैं (तुर्बिनेल्ला पाइरम लिन्न.), कगन बनाने की कला ठीक-ठीक कब सीखी यह ज्ञात नही। भारत मे पुरातनतम नमूने हड़प्पा सस्कृति के मिलते हैं।

आजकल जो शख कगन बनाने के काम मे आता है, वह पवित्र भारतीय शंख अथवा कबु (तुर्बिनेल्ला पाइरम लिन्न) है, जिसका अधिकाश भारत और लका के बीच स्थित मन्नार की खाडी से आता है। कहा जाता है कि एक वर्ष मे ४,०००,००० से ५,०००,००० तक ऐसे शख मद्रास और कलकत्ता आयात किये जाते है।

मोहेजोदडो मे पाये गये शखो मे से अधिकाश दूसरी जाति (फासियोलारिया ट्रापेजिअम लिन्न) के हैं, यद्यपि तुर्बिनेल्ला पाइरम का एक नमूना कर्नल सेवेल द्वारा उल्लिखित है। तुर्बिनेल्ला पाइरम, वर फ्युसस सोवेर्बी का एकमात्र नमूना भी प्राप्त हुआ है। अत सम्भावना यह है कि सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग भारत के समुद्र-तटो तथा फारस की खाडी के किनारे के अनेक स्थानो से शख प्राप्त करते होगे।

तकनीक

आधुनिक भारत मे शख तैयार करने की पद्धति दिलचस्प है। हार्नेल के अनुसार, शख ओष्ठ के एक टुकडे को चीर कर निकाल दिया जाता है और फिर शख की भित्तियो के साथ उसे जोडने वाले पटो को हथौडे से तोडकर स्तभिका को निकाल लिया जाता है। इसके बाद शख के शीर्ष को तोड दिया जाता है तथा स्तभिका को मुक्त कर दिया जाता है। इससे खोखला नलीदार शख बचा रह जाता है, जिसे चीरकर कगन बनाये जा सकते है।

आजकल भारत मे व्यवहार मे आने वाला लोहे का आरा हाथ से चलाया जाता है, तथा यह गहरा चन्द्राकार होता है, जिसके ऊपरी किनारे के दोनो छोरो पर मूठें होती है। काटने वाली धार से दो सेंटीमीटर की दूरी को छोडकर, फलक की मोटाई दो मिलीमीटर होती है, जबकि काटने वाली धार पर यह ० ६ मिलीमीटर तक पतली कर दी जाती है। आरे के दात बहुत छोटे होते हैं, तथा दातेदार की बजाय बारीक दन्तुरित होते है। आरे का ऊपरी किनारा लोहे के नलिका से भारी बना दिया जाता है, जिसका वजन निस्सन्देह काटने के कार्य मे सहयोग देता है। शख के कठोर होने के कारण आरे को बार-बार तेज करने की आवश्यकता पडती है, लेकिन इस प्रक्रिया मे बहुत अधिक समय नही लगता। हार्नेल के विचारानुसार शख का टुकडा काटने के लिए अत्यन्त प्रशिक्षित दृष्टि की, हाथ और बाहु की पूर्ण स्थिरता

की, तथा लम्बे समये तक काफी असुविधाजनक मुद्रा में बैठे रहने के लौह मनोबल की आवश्यकता होती है । कवच को एक बार चीरने मे औसतन चार मिनट लगते हैं ।

एक भाग के चीरे जाने के बाद भीतर की ओर प्रक्षेपित भग्न को, जो स्तभिका को हटा देने के फलस्वरूप आसन्न मेखलाओ के बीच के पट का अवशेष होता है, बडी सावधानी के साथ छीला जाता है, कुण्डली का यह भाग सबसे कमजोर बिन्दु होता है । इस कार्य के लिए एक तेज धार वाले हथौडे का प्रयोग होता है ।

काटे हुए खण्डो के भीतरी भाग को लकडी के तकुवे से, जिस पर लाख मे जडी, नदी के बारीक बालू की परत चढी होती है, रगडा जाता है, एक ही साथ कई खण्ड उसके आगे-पीछे सचलन से चिकने होते रहते हैं । इसके बाद ऊपरी सतह की पालिश करना तथा, जरूरत हो तो, उस पर नक्काशी करना शेष रह जाता है । इस कार्य के लिए बरमा, रेती तथा छोटी आरिया काम मे लाये जाते हैं ।

शख से बनी वस्तुओ का निर्माण स्पष्टत मोहेजोदडो मे एल क्षेत्र के कुछ भागो मे होता था । कक्ष ४४ मे पैतीस से कम शख नही मिले, ग्यारह शख कक्ष ५३ से, पन्द्रह शख कोर्ट ६६ से, चौबीस शख घेरा ७० से, तथा तेईस शख कक्ष २७ से प्राप्त हुए हैं, साथ ही क्षेत्र के अन्य भागो से अपेक्षाकृत कुछ कम सख्या मे ही सही, शख प्राप्त हुए हैं । इनमे से अधिकाश शंख पूण हैं, लेकिन कुछ मे से स्तभिकाए हटा दी गयी हैं तथा इनकी अवस्था से स्पष्ट होता है कि स्तभिका को हथौडे की मदद से शख की दीवारो से उसी प्रकार हटाया जाता था, जिस प्रकार आजकल किया जाता है ।

मोहेजोदडो मे वस्तुत सम्पूर्ण शख का प्रयोग किया जाता था । शख की दीवारें छोटी और बडी, दोनो प्रकार की चूडिया बनाने के काम आती थी तथा स्तभिका मनके बनाने के काम । गोल बिम्बाकार अथवा बेलनाकार मनको जैसे अपेक्षाकृत साधारण आकारो के लिए स्तभिका को सीधे आरे से चीरा जाता था (मार्शल, १९३१, २, पृ ५६४ मे मैके, तथा हॉर्नेल, १९१८, पृ ४३३-४८) ।

शख की चूडियो व कगनो के वर्तमान तथा प्राचीन विस्तार तथा द्रविड लोगो के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध से हॉर्नेल ने आगे यह निष्कर्ष निकाला कि यह सुविस्तृत प्रथा अथवा रीति सम्भवत आर्यों से पूर्व की थी ।

शख की जड़ाई

शख की जडाई के सचित्र दृष्टान्त (हॉर्नेल, फलक CLV तथा

CLVI, स १२) से पाठक को मोहेजोदडो के शख-कर्तको की क्षमता का अच्छा अनुमान लग जाता है। अधिकाश वृत्ताकार रूपाकन निश्चय ही शख की स्तभिका से काटे गये होंगे तथा वे आकार मे शख के व्यास के अनुसार छोटे-बडे हैं। अन्य रूपाकन शख की भित्तियो से काटे गये हैं। लेकिन ये टुकडे यदि बडे हो जाते थे तो एक असुविधा होती थी—अपनी स्वाभाविक वक्रता के कारण वे जडाई के निमित्त मुश्किल से ही सपाट रह पाते थे। छोटे-छोटे टुकडो मे, जहा पतलेपन से कुछ बिगडता नही है, यह कठिनाई एक अथवा दोनो सतहो को रगडकर समाप्त की जा सकती थी, परन्तु बडे टुकडो मे इस पद्धति से उनके टूटने का भय रहता था।

यह अभी तक ज्ञात नही है कि जडाई के इन टुकडो पर किस प्रकार जालीदार नक्काशी बनायी जाती थी, क्योंकि इनका कोई अपूर्ण नमूना प्राप्त नही हुआ है। इसके तीन सम्भव तरीके हैं छोटी छेनी अथवा तक्षनी द्वारा, महीन दातोवाले आरे तथा बरमे द्वारा। तीसरी पद्धति निस्सदेह, सरलतम रही होगी। तो भी, जडाई के अधिकाश खण्डो के किनारो मे ऐसे चिन्ह दीखते हैं जो रेती अथवा आरे द्वारा बने लगते हैं। सभवत, बरमे द्वारा खण्ड के आकार का खाका बनाने के बाद ही, काटने का काम एक महीन दातोवाले आरे द्वारा पूरा किया जाता था और तत्पश्चात् किनारे को चिकना करने के लिए रेती का प्रयोग किया जाता था।

अधिकतर साधारण रूपाकनो मे जडाई के खण्डो के बाहरी किनारे, चाहे वे फेएन्स के हो अथवा शख के, परस्पर सम्बद्ध करने हेतु थोडे तिरछे काट दिये जाते थे। अपेक्षाकृत अधिक पेचीदे खण्डो मे इस तरह की तिरछी कटाई अनावश्यक थी, इसके बिना भी जडाई को यथास्थान बनाये रखने के लिए काफी जगह रहती थी।

चूकि लकडी नमकीन अथवा आर्द्र मिट्टी मे नष्ट हो जाती है, इस कारण उपयुक्त स्थान पर जडाई लगा कोई फर्नीचर का टुकडा प्राप्त नही हुआ है। जडाई के इन टुकडो की मोटाई अलग-अलग है। वे सम्भवत पलस्तर मे जडे जाते थे। सभवत, जडाई के मक्खनी रग से विपर्यास दर्शाने के लिए पलस्तर की सतह को रगा गया होगा (मार्शल, १९३१, पृ ५६५-६६ मे मैके)।

यहा यह और कह दिया जाय कि शख-कार्य की कला वस्तुत हडप्पा के लोगो के साथ ही विनष्ट हो गयी और बहुत बाद मे, ऐतिहासिक काल मे जा कर पुनर्जीवित हुई। इसका कारण यह है कि चूडियो और मनको के अतिरिक्त हडप्पा सस्कृति के लोग इससे अनेक अन्य वस्तुए, जिनमे प्यालिया तथा थालिया भी शामिल हैं, बनाते थे।

(ग) पत्थर के मनके

विभिन्न प्रकार के पत्थर के मनके तब तक नही बन सके होगे जब तक मानव ने दबाव फलकीकरण की तकनीक नहीं सीख ली होगी, और प्रयोग्य सामग्री की अपेक्षा अधिक कठोर सामग्री के नोकदार बरमे नही बनाये होंगे। पत्थर का प्रकार चाहे जो हो, सर्वप्रथम, उसे मोटे तौर पर मनके के आकार के अनुरूप उपयुक्त खण्डकों मे परिवर्तित करना पडता था। प्रस्तर-पिंड तथा स्फटिक प्राकृतिक अथवा कृत्रिम ताप मे तपाये जाते होगे, जैसा कि आज भी गुजरात के काम्बे मे अकीक के मामले मे उपयुक्त रग प्राप्त करने के लिए (सम्भवत पत्थर को मुलायम बनाने के लिए भी ?) किया जाता है। मोहेंजोदडो मे, मैके की जाच के अनुमार, ये कृत्रिम रूप से रगे भी जाते थे अथवा कृत्रिम रूप से बनाये भी जाते थे।

तकनीक

ब्लेड-कोरो के सदृश पहले निर्बाध फलकीकरण द्वारा, तत्पश्चात् नियन्त्रित फलकीकरण द्वारा तथा अन्त मे दबाव फलकीकरण द्वारा आयताकार खण्डक बनाये जाते थे। उज्जैन, नवदाटोली, मोहेजोदडो, चन्हुदडो, अत्रजिखेडा तथा इनामगाव मे ऐसे खण्डको के प्राप्त होने से यह स्पष्ट है। तीसरे और चौथे चरणो मे खण्डक प्रथमत घिसा जाता था और फिर थोडे से पानी तथा घर्षण-सामग्री के साथ बलुआ पत्थर अथवा ऐसी ही खुरदुरी सतहवाले समतल पत्थर पर रगडकर चिकना बनाया जाता था।

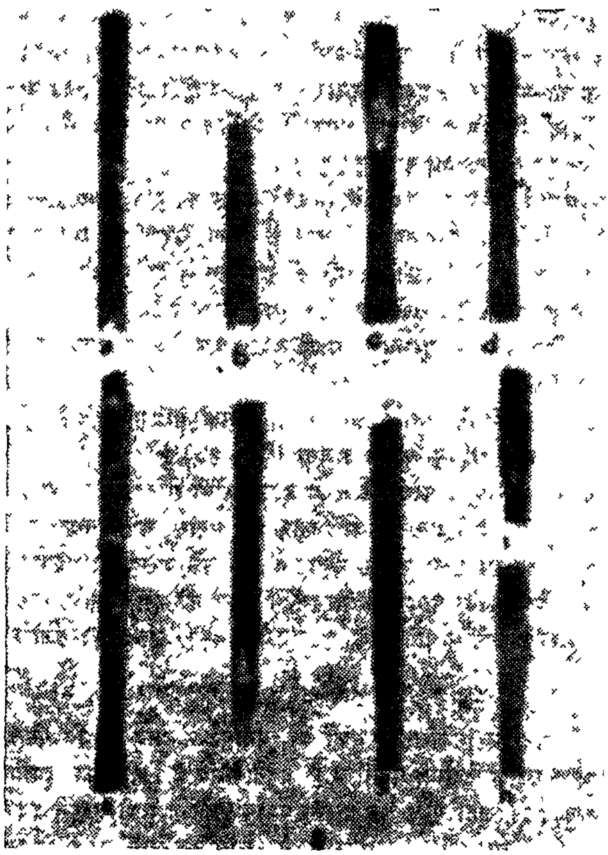
सबसे अन्त मे पालिश की जाती थी। इस बात का पता कि ये अधिकतम सम्भाव्य अथवा सही-सही चरण थे, दो तरीको मे लग सकता है प्रथम, ऊपर लिखे कुछ स्थलो से अपूर्ण तथा अर्धपूर्ण मनको की वास्तविक प्राप्ति से तथा द्वितीय, काम्बे मे आज भी प्रचलित तकनीक की जाच से।

जब सब कुछ तैयार हो जाता था तब आता था सबसे महत्वपूर्ण चरण—छेदन। लम्बे, बेलनाकार मनको के मामले मे आम तौर पर लम्बायमान कुल्हाडी से छेद किया जाता था। यह काम अब काम्बे मे बिजली से चालित हीरे की नोकवाले बरमे से किया जाता है, लेकिन कुछ वर्ष पहले तक यह हाथ से किया जाता था।

विभिन्न प्रागैतिहासिक केन्द्र किस प्रकार कार्य करते थे, इसका हम लोग केवल अनुमान ही लगा सकते है। इसमे सन्देह नही कि दोनो तरफ से छेद बनाने का यत्न किया जाता था, क्योकि हम लोगो को यदा-कदा रद्द मनके भी मिले हैं, जिनमे बना हुआ छेद सीधा नही है। सभवत, यह लम्बी तथा श्रमसाध्य प्रक्रिया थी, लेकिन भारत के कतिपय स्थलो मे स्वतत्र रूप से यह

कार्य किया जाता था, यह अपूर्ण तथा छिद्ररहित नमूनो की प्राप्ति से सिद्ध होता है।

पत्थर के इन मनको का निर्माण हमारा परिचय किन्ही नयी तकनीको से नहीं कराता, क्योंकि इसमे केवल प्रारम्भिक प्रस्तर युगों मे पाये गये फलकीकरण और चिकना करने तथा पालिश करने की विभिन्न पद्धतियों का ही प्रयोग हुआ है। यदि कोई कला नयी मानी जा सकती है, तो वह है बरमे] से छेद करने की कौशलपूर्ण कला।



चित्र-१३

मनको में छेद करने वाले बरमे। ताम्रकांस्य (मैके), चन्हुदड़ो, फलक LXXXVI, बी)।

लोथल से एक और चरण का साक्ष्य मिलता है, जो वस्तुत अकीक और कार्नेलियन के प्रस्तर खडो से मनके बनाने के पूर्व का प्रथम चरण था।

स्वाभाविक रूप से लाल अकीक (जिसे कार्नेलियन कहते हैं) सहज उपलब्ध नहीं होते। पीले या उजले, भूरे रग के अकीको को उपलो की धीमी आच मे तपाना पडता है और फिर कुछ समय धूप मे खुला रखना पडता है। यह रीति काम्बे मे अभी भी प्रचलित है। ऐसा लगता है कि हडप्पा सस्कृति के लोगों ने इस बात को समझ लिया था, क्योंकि लोथल से अकीकों के तपाने तथा चमकदार लाल रग के कार्नेलियन बनाने हेतु विशिष्ट रूप से निर्मित अण्डाकार भट्ठा मिला है। यहा पर एक बडा आगन, जिसके केन्द्र मे काम करने के लिए चबूतरे थे, तथा कर्मचारियो के अनेक निवास-कक्ष मिले हैं। दो प्रकार के कास्य बरमो—एक कोरदार तथा दूसरा ऐंठी हुई नलिका वाला—के अतिरिक्त निर्माण के विविध चरणो मे निर्मित मनके तथा सैकडो कार्नेलियन मनके भी प्राप्त हुए है (चित्र १३)।

चन्हुदडो मे मैके ने पत्थर के मनके बनाने की एक कार्यशाला खोज निकाली। इससे हम लोग मनके बनाने के अनेक चरणों के दृष्टान्त देने मे तथा यह दर्शाने मे भी कि छोटे बरमो की सहायता से इन मनको मे छेद कैसे किये जाते थे, सक्षम है। सक्षेप मे इसके चार चरण हैं

(१) निर्बाध, और सम्भवत, सतर्क दबाव फलकीकरण द्वारा बेलनाकार रुक्ष बनाना।

(२) सतह की विषमताओ को हटाना, जिसको पेकिंग कहते हैं।

(३) विभिन्न श्रेणियो की सान देना (चित्र १४)।

(४) छेद करना। पत्थर के बरमे द्वारा दोनों छोरो से यह कार्य किया जाता था। बरमे के छेद करने वाले छोर पर महीन घर्षक तथा पानी को अटकाने के लिए छोटा-सा कोटर रहता था, जिससे बरमा आवश्यकतानुसार काट करता था। कठोर पत्थरो के मामले मे पत्थर को रुखड बनाना पडता था ताकि बरमा फिसलने न पाये (मैके, १९४३, पृ २११) (चित्र १३ तथा १४)।

निरेखित मनके

कार्नेलियन के निरेखित मनको की बनावट मे नवीन, विकसित तथा दक्षतापूर्ण तकनीक दिखायी पडती है। बहुत सभव है कि इसका आविष्कार सिन्ध मे हुआ हो, जहां आज तक इसका प्रयोग होता है। दीक्षित ने इन तीनो तकनीको की विस्तारपूर्वक विवेचना की है, जिसे हम सार रूप मे प्रस्तुत कर रहे हैं (दीक्षित, १९४९)।

तकनीक की दृष्टि से तीन प्रकार के निरेखित मनके मिलते हैं।

प्रकार-१ लाल पृष्ठभूमि पर उजली बनावटें।

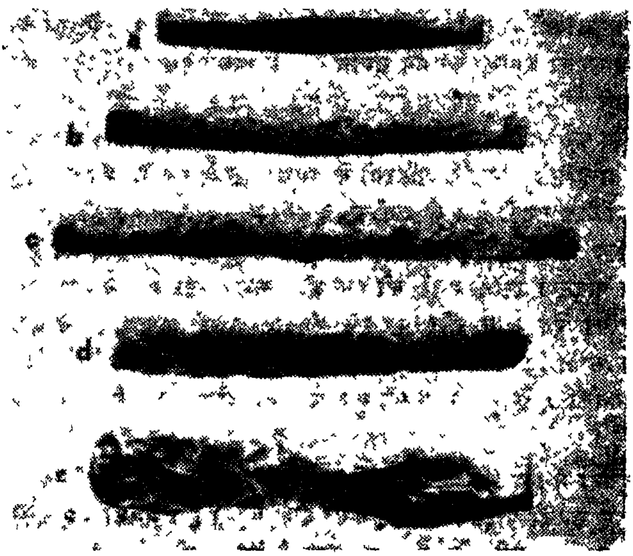
प्रकार-२ पत्थर की श्वेतकृत सतह पर काली बनावटें।

प्रकार ३ पत्थर पर प्रत्यक्ष रूप से निरेखित काली बनावटें।

प्रकार-१ के मनके बहुत सामान्य हैं, प्रकार-२ के मनके विरल हैं, तथा प्रकार-३ के मनके करीब-करीब नगण्य हैं, फिर भी ये सब के सब सिन्धु अथवा हड़प्पा युग तक के हैं और इसलिए ये तकनीकें कम से कम २३०० ई पू. तक की होनी चाहिए।

तकनीक

१ लाल सतह पर उजली बनावटें पोटास, उजले रागे तथा किराल काढ़ी का गाढा घोल बनाकर तैयार की जाती थीं। इस घोल को कलम से कार्नेलियन के ऊपर लगाया जाता था। लकडी के कोयले की आग पर तपाकर रूपाकन को स्थायी बनाया जाता था।



चित्र-१४

निर्माण के विभिन्न चरणो में निर्मित अकीक के मनके।

सी-प्रथम चरण

डी, बी-द्वितीय चरण

[illegible]-तृतीय चरण

([illegible] [illegible]दड़ो, फलक xciii, ४)

अणुवीक्षण यंत्र द्वारा इन मनको के विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि विस्तार के विभिन्न गुणको के अन्तर्गत निरेखन द्वारा बहुत-से सूक्ष्म धब्बे बन जाते थे। उजली परतें पत्थर की अन्य सतह को प्रभावित नहीं करतीं।

२. प्रकार-२ के मनको मे उजली सतह पहले क्षार से बनायी जाती थी। इन पर ताम्बे तथा मैंगनीज जैसी धातुओ से बने काले रग से रेखाएं खींची गयी हैं। प्रभाव कभी-कभी बैंगनी सदृश होता है।

३ प्रकार-३ मे बनावट को मनके की मूल सतह पर सीधे-सीधे काले रग मे निरेखित किया गया है।

यह भी परिलक्षित है कि तीनो तकनीकें अलग-अलग नहीं मिलती। प्रकार १ एव २ ((विभेद ए) तथा प्रकार १ एव ३ (विभेद ख) के संयोग बहुधा देखे गये हैं।

जौहरी की कला

मोहेंजोदडो मे कुछ मनके एक ही पत्थर से काटे गये मालूम पडते हैं, क्योंकि उनका घनत्व लगभग समान है। ये पत्थर इस तरीके से काटे गये हैं कि उसमे जौहरी की दक्षता अच्छी तरह प्रदर्शित होती है, और लाल-बादामी पृष्ठभूमि पर स्फटिक की उजली पट्टियां दीख पडती हैं, मनका २ तथा २८ में भी दालचीनी रग की ,पट्टियो के साथ केन्द्र मे चूहे के रग के सदृश भूरी पट्टियां दीख पडती हैं। दो अकीक, ३ तथा ४, सम्भवत एक ही पत्थर से बने हैं (घनत्व क्रमश २ ६१६ एव २ ६०८), तथा सुन्दरता से काटे गये हैं जिससे उजली पट्टिया प्रत्येक मनके को एक ओर समानान्तर रूप से पार करती हैं, पत्थर का रग आम तौर पर हरे रगवाली झाडी (बकथार्न) से अपेक्षाकृत अधिक गाढ़ा है, वे 'पैगोडा के पत्थरों' अथवा बर्मा के अकीको के समान हैं। मनका ५ के पृष्ठ भाग पर कुछ पट्टिया दीख पडती हैं, जो सतह तक आती हैं।

दूसरा मनका भी अकीक है, जिस पर बेडाइक बादामी पट्टी को आवृत्त किये हुए उजली पट्टियो की श्रृंखला दीख पडती है। मनका २२ अकीक का एक सुन्दर नमूना है जो ऐसा काटा गया है कि उजली पट्टिया, जो प्राकृतिक पत्थर मे गोलाभीय पिंड के रूप मे रहती, अब मनके को—उसके एक ओर परस्पर पृथक होती हुई तथा दूसरी ओर परस्पर मिलती हुई—आवृत्त करती हैं। इस प्रकार, पत्थर को पट्टीयुक्त गोलाभीय पिंड के आधार के आर-पार काटा गया था।

दोनो मोस-अकीक इस प्रकार काटे गये हैं कि अपेक्षाकृत अधिक पाण्डु रग के कैल्सेडोनी पिंडो पर उजली अण्डाकार पट्टी मे हरे (नजदीकी

रग घास के मैदान वाला हरा रग) घेरावो का अण्डाकार संग्रह दीख पडता है ।

एक दूसरे अकीक के मनके, जो फीतादार अकीक के प्रकार का है, की बाहरी सतह पर सुन्दर 'किरीट' की बनावट दीख पडती है, तथा सुलेमानी पत्थर के मनके, ११, में काले पत्थर पर एक ही केन्द्र से खिची उजली पट्टियां दीख पडती हैं ।

फीतायुक्त सूर्यकान्तमणियो (रिबाण्ड-जैस्पर), १ तथा २७, के प्रसंग में जौहरी ने इस प्रकार मनको को काटा है जिससे दो परस्पर काटती हुई पट्टिया प्रदर्शित होती हैं जो क्रास-रेखन की नक्काशी बनाती हैं, यह अधिक विशिष्टता के साथ बाद वाले मनके (२७) पर प्रदर्शित है ।

उक्त विशेष रूप से उल्लिखित पत्थरो के अतिरिक्त अधिकाशत जो बचा है, वह भी उत्साहवर्द्धक है । यह इगित करने के लिए काफी कुछ लिखा जा चुका है कि मोहेजोदडो नगर के उत्कर्ष-काल मे ही जौहरी इस कला को पूर्णता के शिखर तक पहुचा चुके थे । सभी मनको के ऊपर उन्नत किस्म की पालिश है तथा ये परिरक्षण की उत्तम अवस्था मे हैं (मार्शल, १९३१ मे मैके) ।

पत्थरो का यह सावधानीपूर्वक चयन अनेक स्थलो मे देखा गया है । लेकिन यह बेगोर, जिला भीलवाडा, राजस्थान मे सबसे अधिक देखा जाता है, जहा पट्टीदार मनके बहुत छोटे है, जिनका व्यास मुश्किल से एक मिमी तथा लम्बाई दो मिमी है (मिश्र, १९६८) ।

सूक्ष्म सिलखडी के मनके

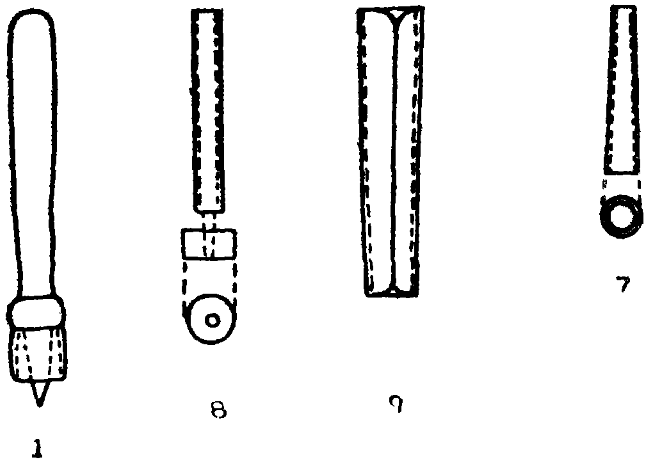
हडप्पा तथा अन्य ताम्र-पाषाण युगीन स्थलो से छोटे तथा सूक्ष्म मडलाकार सिलखडी के मनके मिले हैं ।

ये चन्हुदडो मे भी मिले हैं तथा हाल मे कयथा मे (१९६८) हजारो की सख्या मे पाये गये है जो अपने मूल रूप मे सूती धागे मे पिरोये हुए होंगे, यद्यपि धागा अब बचा नही है ।

जिस तकनीक से ये सूक्ष्म मनके बनाये जाते थे, वह चन्हुदडो मे प्रकाश मे आयी । यहा एक कमरे से बहुत छोटे आकार के अनेक मनकों के साथ मनके बनाने के छ औजार प्राप्त हुए हैं । इस सदर्भ से तथा साथ ही डब्ल्यू जे. यग द्वारा किये गये स्वतत्र परीक्षण से मैके ने निष्कर्ष निकाला है कि ये मनके बनाने के औजार हैं ।

ये छ के छ औजार ताम्बे अथवा कासे की नोकयुक्त नलिकाएं हैं—लगभग एक इच लम्बी । जिसका यहा चित्र दिया गया है, वह सबसे अधिक परिरक्षित है (चित्र-१५) । इसकी सम्पूर्ण लम्बाई ०.९३ इच है,

मोक ०.२५ इच की है तथा व्यास ० ८ इच है । यह अनुमान किया जाता है कि सर्वप्रथम सिलखडी के चूर्ण का गाढा लेप तैयार किया जाता था । इसके बाद यह लेप नलीदार नोकों मे ठीक उसी प्रकार प्रविष्ट किया जाता था जिस प्रकार आजकल हलवाई मीठी रोटी बनाने के लिए महीन चूर्ण को नलियों से डालते हैं । आवश्यक दाब औजार की ऊपरी नलिका के भीतर धातु अथवा लकडी के डडे को सरकाकर उत्पन्न किया जाता होगा (मैके, १६४३, पृ १८६) ।



चित्र-१५

मनके मे छेद करने वाले बरमे । ताम्र, कांस्य । चहुदडो से । (मैके, १६४३, फलक LXXX, १, ८, ६ तथा फलक LXII, ७)

(घ) फेएन्स

यह एक कृत्रिम पदार्थ है जो अत्यधिक ग्लेजदार अथवा अपारदर्शी शीशे के समान होता है । मुख्यत इसके मनके, लेकिन चूडिया, खाचेदार कगन तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुएं भी, सिन्धु सभ्यता मे प्रथम बार मिली हैं । अन्यत्र केवल मनके प्राप्त हुए हैं, वे भी उतनी प्रचुर मात्रा मे नही जितने इस सभ्यता मे ।

सबसे पहले फेएन्स कहा बना, यह अभी तक अज्ञात है । इसके निर्माण और विभेदो का मैके ने भली भाति वर्णन किया है (मार्शल, १६३१, १ तथा १६३८, १, पृ ५८३) । कुछ बातो को छोडकर, यह विवरण पुन यहां प्रस्तुत किया जाता है ।

फैएन्स की, जो सिन्ध के लोगों मे बहुत लोकप्रिय था, रचना कठोर, बारीक दानेदार तथा ग्लेज-आवृत्त है। प्रचलित रंग नीलापन लिये हुए हरा तथा हरापन लिये हुए नीला है, यद्यपि उजले, चॉकलेटी तथा लाल रंग के नमूने भी मिले हैं। अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा जाच से पता चलता है कि इसका ढांचा ठोस एव दानेदार है, जो पारदर्शी सीमेंट से जोड़े हुए कोणदार स्फटिक कणों से बना है। इसके रासायनिक विश्लेषण से भी पता चलता है कि सिलिका इसका प्रधान घटक है, जिसकी मिलावट कुल योग का ६० प्रतिशत है। इन तथ्यो से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल लेई बारीक पीसे हुए स्फटिक अथवा शुद्ध श्वेत बालू, एक प्रकार के शीशेदार रेशे तथा आवश्यकतानुसार रगनेवाले पदार्थ से बनायी जाती थी। यह स्पष्ट है कि साचे में ढली हुई वस्तु को सुखाना तथा रेशे के विलयन के लिए आग मे पकाना पड़ता था, लेकिन इसका उत्तर देना कठिन है कि लेई के अनेक सघटकों को आवश्यक समुचित सयोग तथा सुघट्यता किस प्रकार प्राप्त होती थी। यह सुझाव अमान्य है कि मिट्टी अथवा गोद इस कार्य के निमित्त प्रयोग मे लाये जाते होगे, क्योकि इसमे मिट्टी बिलकुल नहीं है; गोद अथवा कोई अन्य घटक पदार्थ रेशे के पिघलाव के बहुत पूर्व ही पकाने के क्रम मे समाप्त हो जाते होगे। सम्भवत, सोडा का सिलिकेट, जिससे पानी में अत्यधिक चिपचिपा घोल बनता है, लेई बनाने के लिए प्रयोग मे लाया जाता था तथा उससे गीली लेई को वाछित तत्व की प्राप्ति होती थी। यहा इसका उल्लेख किया जा सकता है कि बालू के साथ सोडे के विलयन से क्षारीय सिलिकेट (ऑल्कालाइ सिलिकेट) बनाने की कला कलई का प्रयोग करने वाले प्राचीन राष्ट्रों को भली भाति ज्ञात थी।

बलुआ कोर पर साँचे में ढलाई

खोखली वस्तुए बालू के कोरो पर साचे मे ढाली जाती थी, जो किसी ढाचे मे बांध दी जाती थी तथा आग पर पकाने के बाद हटा दी जाती थी। ढाचे की छाप तथा साथ ही बलुआ कोर के अवशेष अनेक नमूनो मे पाये गये हैं।

फैएन्स में रंग

उजला अग, रगने वाले धात्विक पदार्थ से मुक्त हैं, तथा रगीन प्रभेदो का आधार बनाता है। नीले तथा हरे रग लेई मे ताम्बे के आक्साइड के योग से, सम्भवत इस धातु के प्राकृतिक अयस्क के रूप मे, बनते थे, तथा चॉकलेटी रग ताम्र-मिश्रित आक्साइड का प्रतिफलन है जो भट्ठे में अपचयित वातावरण के फलस्वरूप निर्मित होता था। हल्का लाल प्रभेद कच्ची लेई में लाल गेरुवे रग के योग से बनता था।

इन वस्तुओ के उल्लेखनीय प्रभाव के सम्बन्ध मे कोई धारणा बनाने के लिए उस क्षारीय मृदा की, जिसमे ये अब तक दबी पडी थीं, क्षयकारक क्रिया से उनमे आये परिवर्तनो पर यथोचित विचार होना चाहिए। वस्तुत, मूल कलई बहुत कम नमूनो पर बच रही है, यद्यपि रचना-सामग्री साधारण-तया अच्छी तरह परिरक्षित है। कुछ मामलों में अपघटन अपेक्षाकृत गहराई तक हुआ है, जिससे नीला अथवा हरा रग धुधले सफेद अथवा बादामी रंग मे बदल गया है, जो क्रमश ताम्र-आक्साइड के विरजित होने तथा लोहे के मौलिक कार्बोनिटो के अवक्षेपण का परिणाम है।

फेएन्स—ग्लेज

फेएन्स की वस्तुए ग्लेज की स्पष्ट परत से आवेष्टित है जो अवश्य ही अलग से लगाया गया होगा जैसा कि सिलखडी की वस्तुओ के मामले मे देखा गया है। यह काफी सभव है कि आजकल की तरह ही रोगन करने का कार्य दूसरे प्रदहन के समय किया जाता रहा हो। फेएन्स के ग्लेज का प्रचलित रग नीलापन लिये हरा अथवा हरापन लिये नीला है, यद्यपि नील के पौधे के सदृश नीले, सेब सदृश हरे, मैरून, काले तथा रगहीन के उदाहरण भी मिले है। नीला रग ताम्र आक्साइड के कारण है, जबकि हरे मे इसके अतिरिक्त लौह आक्साइड भी पाया जाता है। काले तथा गहरे मैरून ग्लेज मे मैंगेनीज-आक्साइड का आधिक्य मिलता है। इसकी चर्चा पहले ही हो चुकी है कि ग्लेज अधिकाशत अपघटन के फलस्वरूप विनष्ट हो चुका है, तथा उपलब्ध सामग्री पूर्ण रासायनिक विश्लेषण के लिए अत्यल्प है। तथापि, इसकी पारदर्शिता, रगने वाले पदार्थ की प्रकृति, तथा इन वस्तुओ की विविधरगी झिल्लियो (फिल्मो) पर विचार करके, निर्विवाद रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह शीशे की प्रकृति का है। शीशे के प्राचीन नमूनो मे रग के निमित्त सोडे तथा चूने के सिलिकेट एव धात्विक आक्साइड पाये जाते हैं, इसके अतिरिक्त कच्ची सामग्रियो से निकले हुए कतिपय अपद्रव्य भी हैं। ये, रगदार प्रभेदो के लिए क्षार, बालू, सॉल्टपिटर तथा खड़िया के साथ धात्विक आक्साइड का विलयन करके तैयार किये जाते थे।

फेएन्स के मनको का अतिविस्तृत अन्तर्महाद्वीपीय प्रसार है, तथा ये प्राय-द्वीपीय ताम्रपाषाण सस्कृति मे भी अल्प सख्या मे उपस्थित हैं। फेएन्स के प्रश्न पर भारत के बाहर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से कुछ विचार हुआ है। जहा तक भारत का सम्बन्ध है, समस्या यह निश्चित करना है कि निर्माण का स्रोत एक है अथवा अनेक। यह विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त मनको की

वर्णक्रम-लेखी द्वारा (स्पेक्ट्रोग्राफिकल) जाच के उपरान्त ही तय किया जा सकता है।

(ङ) सिलखडी

सिलखड़ी टेल्क (तालक) का एक व्यापक अपद्रव्य-प्रभेद है जिसमे सयुक्त जल ४-८ प्रतिशत पाया जाता है। यह सबसे मुलायम खनिजो मे से एक है, जिसमे साबुन के समान सवेदन है, लेकिन लाल ताप में यह जल खो बैठता है तथा बहुत कठोर, उजले तत्व मे परिवर्तित हो जाता है, जिस पर पालिश की जा सकती है।

सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग सिलखडी के इस गुण से भली भाति परिचित थे तथा उन्होने इसका अच्छा उपयोग किया। कच्ची सामग्री का सर्वाधिक सभावित स्रोत राजस्थान था। कास्य उपकरणों की मदद से पत्थर पर सहजता से उत्कीर्णन किया जाता था, तथा तैयार वस्तु को सतर्क उत्तापन द्वारा कठोर एवं टिकाऊ बनाया जा सकता था। रासायनिक विश्लेषणो के परिणामो से इसमे कोई सन्देह नहीं रहा कि यह सामग्री सिलखडी ही है जो उच्च तापक्रम मे अपने अधिकांश सयुक्त जल से विलग हो गयी है। सिलखडी से बडी सख्या मे अनेक आकारो के मनके बनाये जाते थे। सूक्ष्म मनको के लिए कुशल तकनीक अपनायी जाती थी। लेकिन तराशी हुई सिलखडी का सबसे बडा खण्ड मूर्ति है। तथापि, इस वर्ग मे सबसे प्रमुख वस्तुए अनेकानेक अभिलिखित मुहरें है, जिन पर उत्कृष्ट मीनाकारिया बनी हैं।

सिलखडी की मुहरों पर उजला लेप

प्राय इन मुहरो मे सबल उत्तापन का साक्ष्य मिलता है, और केवल १-३ प्रतिशत जल पाया जाता है, लेकिन कुछ मे, बिना जली साधारण सिलखडी मे विशेष तौर पर पाया जाने वाला साबुन-सा सवेदन है और ४ प्रतिशत से अधिक जल है। यह तथ्य उजले लेप की तकनीक की समस्या से महत्वपूर्ण सम्बन्ध रखता है, क्योकि यह इस निश्चित निष्कर्ष तक ले जाता है कि इस पद्धति के लिए उच्च तापक्रम की आवश्यकता नही थी। अतएव यह ग्लेज अथवा लाल ताप से ऊपर के विलयन द्वारा निर्मित मीनाकारी की प्रकृति मे नही है। यह रोचक है कि इसकी सरचना सिलखडी के अनुरूप है जो स्पष्टत इसका मुख्य उपादान है। इन तथ्यो से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह आवरण ऐसा लेप है, जो सीमेट की तरह काम मे लाने के लिए, किसी उपयुक्त पदार्थ के साथ सिलखडी को पानी मे घोल कर बनाया जाता था। इस पदार्थ की प्रकृति पर विचार करते हुए यह अवश्य ध्यान मे

रखना चाहिए कि इन मुहरो का आवरण अथवा लेप प्राय अच्छी तरह परिरक्षित है, जो गोंद अथवा किसी अन्य नाशवान सघटन तत्व के प्रयोग की सम्भावना को नकारता है। इस रोचक समस्या के निदान के निमित्त किये गये अनेक प्रयोगों से मालूम हुआ है कि मुहरो के ऊपर वाले लेपावरण जैसा ही टिकाऊ लेपावरण सोडे के सिलिकेट के माध्यम के साथ पानी मे उत्तापित सिलखडी को घोल कर बनाये गये लेप से तैयार किया जा सकता है। लेप लगाने के बाद वस्तु को चूल्हे मे १००° सेंटीग्रेड के ताप मे सुखाया जाता था तथा अकीक से पालिश किया जाता था। बहुत सम्भव है कि सिन्धु सभ्यता के लोगो द्वारा इसी तरह की पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा हो।

अच्छी तरह परिरक्षित ग्लेज़ से युक्त सिलखडी की वस्तुए दुर्लभ है, लेकिन कभी-कभी लेंस की सहायता से सावधानीपूर्वक देखने पर हरे ग्लेज़ के चिह्नो का पता लगता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इन वस्तुओ मे से कुछ (यानी गोल तथा अण्डाकार मनके) मूल रूप से ग्लेज़युक्त थी। इनमें से कुछ के ऊपर चित्रकारी वाले लाल रग मे फेरिक आक्साइड है, इसके लिए पीला गेरुवा रग प्रयुक्त हुआ लगता है, जो मध्यम ताप मे उत्तापन के बाद बढिया लाल रग प्राप्त करता है (मार्शल, १९३१ २, पृ ६८८ मे सना उल्ला)।

च ताम्र-कांस्य प्रौद्योगिकी

१९४० तक ताम्र-कास्य प्रौद्योगिकी के ज्ञान के लिए आधार सामग्रिया हडप्पा सभ्यता के मोहेजोदडो, हडप्पा तथा चहुदडो नामक तीन स्थलो, बलूचिस्तान के अन्तर्गत कुछ अन्य स्थलो तथा अनस्तरीकृत ताम्र आसचयो से प्राप्त वस्तुए थी।

(क) कालक्रमिक समीक्षा

गत तीस वर्षों मे भारत के विभिन्न भागो मे अनेक ताम्र-पाषाणयुगीन स्थलो की खुदाई हुई है, प्रत्येक से कुछ न कुछ ताम्र-कास्य वस्तुए मिली हैं।

अफगानिस्तान के अन्तर्गत मुण्डिगक से बडे महत्व का साक्ष्य मिला है जिससे धातुकर्म विकास का अच्छा अनुक्रम इगित होता है। इसके अतिरिक्त, ईरान से, खासकर सियालक से, पहले उपलब्ध वस्तुओ का प्रौद्योगिकीय दृष्टि से परीक्षण हो चुका है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह कि ईरान के अन्तर्गत ताम्र-बहुल केर्मान पर्वत-श्रेणी के निकट तल-इ-इब्लिस नामक स्थल को आजकल धातु विज्ञान का पुरातन ज्ञात केन्द्र माना जाता है। यह माना जाता है कि ५००० ई पू के लगभग यही से यह ज्ञान पूर्व और पश्चिम मे फैला था।

पूर्वी प्रसार, जो मुख्यत इससे सम्बन्धित है, तथा भारत मे ताम्र-कास्य प्रौद्योगिकी के विकास अथवा ह्रास की दृष्टि से स्थलो को निम्नलिखित वर्गों में कालक्रमानुसार रखा जा सकता है, यद्यपि प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत सभी स्थलों के लिए कार्बन-१४ की तिथिया उपलब्ध नही हैं।

ईरान

तल-इ-इब्लिस। काडवेल तथा शाहमीरज़दी, १९६६, अग्रवाल, १९६८, पृ. १३४। ५०००-३००० ई पू।

सियाल्क

काल-१-२ ठडी धातु पर हथौड़े से बनाये गये औजार।

काल-३, ४ खुले साचे में ढालना।

काल-३, ५ बन्द साचे मे ढालना।

काल-४ गलाना तथा सिरे-पेरड्यू पद्धति से साचे मे ढालना (कोघलन, १९५१, पृ १५६)।

अफगानिस्तान

मुण्डिगक (३३००-३००० ई पू)

पाच काल हैं (१-५), जो उपकरण प्रकार-विज्ञान के विकास, साथ ही ताम्बे से कासे तक सक्रमण को दर्शाते हैं, यद्यपि सियाल्क जैसा कोई स्पष्ट प्रौद्योगिकीय विकास नही देखा जाता है (कैसल, १९६१)।

बलूचिस्तान

अनेक स्थलो का बहुत आशिक उत्खनन हुआ है, लेकिन अजिरा* नामक सबसे हाल वाले स्थल के अतिरिक्त किसी भी स्थल का स्तरक्रमविज्ञान की दृष्टि से उत्खनन नही हुआ (बेट्रिक डी कार्डी, १९६५, पृ १००)। कोई टिप्पणी करना कठिन है, क्योकि अल्प अथवा खराब तरीके से उत्खनित आधार-सामग्रियो की सिन्ध और पजाब के अन्तर्गत अपेक्षाकृत अधिक पूर्णत. उत्खनित स्थलो से तुलना करना उचित नही होगा। उपलब्ध साक्ष्य निम्न वर्गों मे रखे जा सकते हैं।**

किलि-गुल-मोहम्मद (के जी एम), अंजिरा, राना घुण्डई, दम्ब सदात, नाल, कुल्लि-मेही इत्यादि, तथा मोटे तौर पर निम्न रूप मे विभाज्य

प्राक्हड़प्पा (३५००-२३०० ई पू)।

हड़प्पा तथा सश्रित (२३००-१८०० ई पू)।

---

* कार्डी ने जिन स्थलो का सर्वेक्षण किया उनमे से किसी भी स्थल से ताम्र-कास्य वस्तुएं प्राप्त नहीं हुई।

** अग्रवाल, १९६८, पृ ११५-२० के आधार पर ये कार्बन-१४ की तिथिया कुछ रूपान्तर के साथ अनुकूल बनाई गई हैं तथा राज्यवार पुन क्रमबद्ध की गयी हैं।

सिन्ध तथा पंजाब

प्राक्हड़प्पा आम्री-१, कोट दिजी-१, हड़प्पा-१ इत्यादि (२६००-२००० ई पू)।

हड़प्पा आम्री-२, कोट-दिजी-२, मोहेंजोदड़ो, चन्हुदड़ो, हड़प्पा-२ इत्यादि (२३००-१८०० ई पू)।

उत्तरी राजस्थान

प्राक्हड़प्पा कालीबगन-१ (२४००-२००० ई पू)।

हड़प्पा कालीबगन-२ (२२००-१८०० ई पू)।

पूर्वी राजस्थान

अहाड़-१ (२०००-१००० ई पू)।

बगोर-२ (२८०० ई पू)।

गुजरात

हड़प्पा (लोथल, रंगपुर-२, २२००-१७०० ई. पू)।

लंघनाज-२ (२००० ई पू)।

मध्य प्रदेश

कयथा-१ (२१००-१६०० ई पू)।

कयथा-२ (१८००-१७०० ई पू)।

कयथा-३ एरण, नागदा, नवदाटोली आदि (१७००-७०० ई पू)।

महाराष्ट्र

चण्डोली, जोर्वे, नेवासा, सोनगाव, इनामगाव (१४००-११०० ई पू)।

आन्ध्र, मद्रास, मैसूर

कोडेकल, उत्नूर, तेरदल, टेक्कलकोटा, सगनकल, हल्लूर, पालावॉय, पैनमपल्ली, टी नरसीपुर (२५००-६०० ई पू)।

पश्चिमी बंगाल

पाण्डु राजार ढिबि महिषादल (१००० ई पू)।

बिहार

चिरान्द (१३००-७०० ई पू)*।

---

* चिरान्द-१ की एक कार्बन-१४ तिथि अब १६०० ई पू है।

उत्तर प्रदेश

अतरंजिखेड़ा, हस्तिनापुर (११००-५०० अथवा ८००-४०० ई पू)

ताम्र-संचय

किसी भी ताम्र-संचय अथवा उसके स्थल का स्तरक्रमानुसार अथवा अन्य तरीके से तिथिकरण नहीं हुआ है।

(ख) महत्वपूर्ण परिभाषाएं तथा तकनीकें

भारत के अन्तर्गत प्रागैतिहासिक कालों मे ज्ञात अनेक ताम्र-कास्य तकनीको का उल्लेख करने के पूर्व कुछ मौलिक सिद्धान्तो को परिभाषित करना आवश्यक है।

गढ़ाई (फोर्जिंग)

इसकी दो पद्धतियां हैं

१ ठडे ताम्बे पर हथौडा मारना इसे प्रस्तरयुगीन तकनीक माना जाता है और इस तरह यह ताम्र वस्तुओ के निर्माण में प्रयुक्त सबसे पुरातन तकनीक है।

२ तप्तावस्था में धातु की गढाई।

पुर्नक्रिस्टलन का तापक्रम

जब तापक्रम विशेष के नीचे किसी तापक्रम पर धातु पर मोडने अथवा छेद करने की क्रिया की जाती है, तो वह कठोर हो जाती है। यह तापक्रम धातु के पुर्नक्रिस्टलन का तापक्रम कहलाता है।

लेकिन यह तापक्रम निर्धारित अथवा निश्चित नहीं होता, क्योंकि धातु जितनी ही शुद्ध होगी, तापक्रम उतना ही कम होगा। इस प्रकार शुद्ध ताम्बे का पुर्नक्रिस्टलन २८०° सेंटीग्रेड के निम्न तापक्रम पर होता है।

ठंडा कार्य तथा कठोर बनाने का कार्य

किसी धातु पर पुर्नक्रिस्टलन के नीचे के तापक्रम पर किये जाने वाले किसी कार्य को "ठडा कार्य" तथा उसके परिणाम को "कठोर बनाने का कार्य" कहते हैं।

ठडे कार्य की प्रक्रिया से धातु की भीतरी सूक्ष्म संरचना में स्पष्ट परिवर्तन होता है। नमूने के धातु-वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा यह निश्चित किया जा सकता हैं।

कणान्तरीय विरूपण

जब धातु पर चोट की जाती है, तो उसके कण विरूपित हो जाते हैं।

तथापि, आघात के रुकने पर ये पुन मूल अवस्था मे लौट आते हैं। फिर भी, यदि अत्यधिक बल लगाया जाता है, तो कण अपनी सुघट्यता तब तक खो देते हैं, जब तक कि धातु को पुनर्क्रिस्टलन के तापक्रम से उच्च तापक्रम पर फिर से तपाया नहीं जाता। इस प्रकार का विरूपण "रूपान्तरीय विरूपण" कहलाता है। इस विरूपण का पता धातु-वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा लगाया जा सकता है।

तापानुशीलन

पुनर्क्रिस्टलन के तापक्रम से उच्च तापक्रम पर धातु को तपाने तथा पुन उसे धीरे-धीरे ठडा करने की क्रिया को तापानुशीतन कहते हैं। ताम्बे मे यह ५००° सेंटीग्रेड से ऊपर के ताप पर किया जाता है। तापानुशीतन की विधि से धातु के भीतर का खिचाव समाप्त हो जाता है, परमाणु गतिशील हो जाते है तथा उनकी स्थितिया पुन खिचावहीन तथा स्थिर हो जाती हैं।

कणो का बढाव

यदि धातु को पुनर्क्रिस्टलन के तापक्रम के ऊपर के तापक्रम पर तपाया जाता है तथा उसी तापक्रम मे कुछ देर रहने दिया जाता है, तो नये कण शीघ्रता से बढने लगते हैं। यह प्रभाव "कणो का बढाव" कहलाता है, तथा यह पुनर्क्रिस्टलन की विधि का अनुवर्ती होता है।

कणों का युग्मन

कणो का युग्मन कठोर बनाने के कार्य और उसके बाद होने वाले तापानुशीतन का एक परिणाम है। यह समअक्षीय बहुभुजीय कणो तथा कणो के युग्मन के रूप मे धातु की सूक्ष्म सरचना मे देखा जाता है। कणो का ऐसा युग्मन ताम्बे, चादी, सोने, एल्युमिनियम, रागे जैसी मुख-केन्द्रित जालीयुक्त सरचना वाली धातुओ मे होता है।

ढलाई

ताम्बे की अच्छी ढली वस्तुए तैयार करने के लिए ११५०° सेंटीग्रेड तापक्रम के ऊपर इन्हे तपाना तथा पिघली हुई धातु को लकडी के जलते हुए कोयलो के नीचे पूर्णत ढक कर रखना भी आवश्यक है।

पिघली हुई धातु को साचे मे उढेलने का कार्य दक्षतापूर्ण तथा शीघ्र होना चाहिए। धातु उढेलते समय साचा गर्म रहना चाहिए।

घरिया (क्रुसिबल)

ये बहुत ही अच्छी तरह पकी मिट्टी के छोटे-छोटे पात्र होते हैं। अब

तक एक ही घरिया प्राप्त हुई है तथा वह भी मोहेंजोदड़ो में। घरिया अहाड़ में भी होनी चाहिए थीं। हाल मे एक छोटी बेलनाकार घरिया इनामगाव मे मिली है। इसके छोटे आकार और आकृति से मालूम होता है कि यह सोना गलाने के काम मे लायी जाती थी। तथापि, आलपिन तथा मछली पकडने के काटे जैसी छोटी-छोटी ताबे की वस्तुए भी इस छोटी घड़िया की मदद से ढाली जा सकती थीं।

सांचा

चन्हुदड़ो से प्राप्त एक प्रस्तर-साचे के अतिरिक्त, कास्य अथवा ताम्र-पाषाणयुगीन स्थलो मे से किसी से कोई सांचा नही मिला है। अतएव हेज का सुझाव है कि इस काल मे सम्भवत लकडी से साचे बनाये जाते थे।

ताम्बे के औजारो की ढलाई के लिए प्रयुक्त साचे सभवत बलुआ मिट्टी अथवा चिकनी मिट्टी के होते थे। यह अहाड और चण्डोली मे विशेष रूप से सम्भव है, क्योकि इन स्थलो से प्राप्त कुठारो की सतहें खुरदरी, असमतल तथा नलीदार हैं।

ताम्बे का प्रगलन

मूल अयस्क मे ५ प्रतिशत से कम ताम्बा रहता है। इसे दूसरी वस्तु से निकाला जाता है। निकालने की विधि को प्रगलन (स्मेल्टिग) कहते हैं।

अयस्क तैयार करना

प्रगलन को सुगम बनाने के लिए अयस्क को तैयार करना पडता है, दूसरे शब्दो मे, इसे चूर-चूर किया जाता है, पीसा जाता है और तत्पश्चात् प्लवन अथवा गुरुत्व विलगन विधि द्वारा सकेन्द्रित किया जाता है। ताम्र-पाषाण काल मे चूर किये हुए अयस्क को, आजकल के लुहारो की तरह, सम्भवत हाथ से चुन-फटक कर सकेन्द्रित किया जाता था।

भूंजना

इसके बाद चुने हुए अथवा सकेन्द्रित अयस्क को भट्ठी मे ५००° सेंटीग्रेड से अधिक के उच्च तापक्रम में मोटे तौर पर भूना जाता है। यह अधिकांश गधक और आर्सेनिक को हटाने मे सहायता करता था जो अच्छी ढली वस्तु के लिए अहितकर होते हैं और उसे मुरमुरा बना डालते हैं।

मैट तथा धातु मल

इसके बाद भुने हुए अयस्क को सिलिकेट के साथ मिला दिया जाता था

तथा भट्ठी मे १२००° सेंटीग्रेड से अधिक के उच्च तापक्रम मे तपाया जाता था। इससे मैट (कच्ची धातुओ के गलाने पर प्राप्त रासायनिक पदार्थ) निकलता है। धातु निकालने हेतु, स्राव के बाद उसे और गलाया जाता था।

लकड़ी डालना (पोलिंग)

ताम्र-पाषाणकालीन ताम्बे की कलाकृतियो मे ताम्र आक्साइड है। कहा जाता है कि इसका कारण लकडी डालने की तकनीक का अभाव है। यह एक साधारण विधि है जिसमे पिघली हुई धातु मे हरी कठोर लकडी घुसाकर ताम्र आक्साइड की प्रतिशतता को घटाया जाता है। होता यह है कि लकडी शीघ्र आग पकड लेती है तथा कार्बन-गैसो को बाहर निकाल देती है, तथा इस प्रकार ताम्र आक्साइड को घटाने मे सहायता करती है (अग्रवाल, १९६८, पृ १६६)। सम्भवत, इस तकनीक का प्रयोग भारत मे नहीं होता था।

ताप धातु विज्ञान (पाइरोमैटलर्जी)

इस सपूर्ण धातु विज्ञान सम्बन्धी प्रक्रिया को ताप धातु विज्ञान (पाइरो-मैटलर्जी) कहते हैं। हेज के विचारानुसार ये सभी चरण ताम्र-पाषाण काल मे प्रचलित थे।

हम हेज के इस निष्कर्ष को सरलता से मान सकते हैं, क्योकि अहाड मे प्राप्त धातु-मल मे प्रगलन अभिकर्त्ता के रूप मे केवल सिलिकेट ही नही मिला, अपितु कूडे मे स्फटिक के खण्ड भी प्राप्त हुए हैं। इनको दबाव देकर चूर-चूर करना, पीसना तथा तत्पश्चात् बड़े चूल्हो मे, जो अहाड की अपनी विशेषता थे, भूना जाना शेष रह गया था।

हम लोग बस यह बात ही निश्चित रूप से नही जानते कि १२००° सेंटीग्रेड के ऊपर का तापक्रम कैसे प्राप्त किया जाता था। सबसे साधारण घरिया (धातु गलाने वाला) चूल्हा होता है जो धौंकनी से सुलगाया जाता है, जिसे आज घुमक्कड लुहार तथा स्थायी लुहार भी इस्तेमाल करते हैं।

यद्यपि यह भी सम्भव है कि मिस्र के प्राचीन साम्राज्य की तरह फूकनी द्वारा फूक कर उत्पन्न किया गया ताप पर्याप्त रहता हो।

वर्ण-क्रम-लेखी (स्पेक्ट्रोग्राफ)

अयस्क, धातु-मल तथा धातु की बनी वस्तुओ के वर्ण-क्रम-लेखीय अध्ययन से प्रयुक्त अयस्क का सम्भावित सकेत मिलता है, खासकर तब जब अयस्क, धातु-मल तथा वस्तु की अशुद्धता के ढाचे घनिष्ठ रूप से अनुरूप मिलते हैं। फिर भी, बहुत-से अन्य कारक हैं तथा अयस्क के अन्तर्गत

पाई जाने वाली अशुद्धियां एक ही खान की विभिन्न गहराइयो से प्राप्त अलग-अलग नमूनों मे अलग-अलग दिखलायी पडती है। अतएव इस अध्ययन का सीमित प्रयोग है।

अग्रवाल ने भाभा परमाणु शोध केन्द्र मे ताम्र-कास्य वस्तुओ के अनेक नमूनो का निस्सरण वर्ण-क्रम-लेखी द्वारा विश्लेषण किया। इसमे शुद्ध मूल तत्वो की रगावलियो के साथ, नमूने की रगावली के तरग-दैर्घ्यों की तुलना की गयी। परिमाणात्मक विश्लेषणो मे प्रत्येक तत्व के सकेन्द्रण के निर्धारण के लिए प्रत्येक तत्व हेतु चुनी हुई लाइनो की तीव्रता को नापना पडता है। ३७ तत्वो मे से २० तत्व, जिनमे लोहा, चादी, सुरमा, रागा, टिन, गिलट (निकेल), जस्ता, सोना तथा अन्य सम्मिलित हैं, अग्रवाल ने अध्ययनार्थ चुने थे (पृ १५६-६०)।

(ग) ताम्बे के स्रोत

ताम्बे के स्रोतो की छानबीन अभी तक वैज्ञानिक ढग से नही हुई है। दूसरे, जैसा अन्य देशो मे हुए काम से पता चला है कि यह एक जटिल प्रक्रिया है। न केवल भारत के अन्तर्गत, विभिन्न स्थलो से प्राप्त ताम्र-कास्य वस्तुओ का विश्लेषण करना होगा तथा उनके सघटक तत्वो की विभिन्न सभावित क्षेत्रो से प्राप्त अयस्को के समान-विश्लेषण से तुलना करनी होगी, बल्कि एक ही स्थान, अथवा खान से प्राप्त अयस्को के नमूनो को सावधानीपूर्वक एकत्र करना और समान रूप से उनका विश्लेषण भी करना होगा। ऐसी तुलना मे, खासकर अयस्क मे और तुल्य वस्तु मे अशुद्धि का ढाचा उपयोगी है, न कि आर्सेनिक, रागे तथा गिलट जैसे कतिपय मूल तत्वो की उपस्थिति।

पहले हड़प्पा सभ्यता के मोहेजोदडो तथा हड़प्पा नामक दो प्रमुख स्थलो के लिए ताम्बे के स्रोत राजस्थान, बलूचिस्तान तथा अफगानिस्तान मे सुझाये गये थे (मार्शल, १९३१)। सना उल्ला द्वारा अशुद्धि ढाचे के अध्ययन (वत्स, १९४०, १, पृ ३७९) से सकेत मिला है कि हडप्पा सभ्यता के लोगो द्वारा राजस्थान के अयस्को का उपयोग किया जाता था। खेत्री अयस्क के हेज द्वारा विश्लेषण तथा अहाड से प्राप्त ताम्र वस्तुओ के अशुद्धि तत्वो से इसकी निकटता से कुछ सीमा तक इस बात की पुष्टि हुई है।

तथापि, इस सूचना का यह निहितार्थ भी है कि राजस्थान मे इन हडप्पायुगीन खानो (?) के स्थलो का पता लगाना होगा।

जब तक इनका पता नही लगता है, तब तक हम अग्रवाल के इस विचार को मान सकते हैं कि मोहेजोदडो, हडप्पा तथा रगपुर जैसे हडप्पा सभ्यता

के विभिन्न केन्द्र देशी ताम्रे तथा आक्साइड खनिजो के ऊपर निर्भर थे, जो प्राय धरातल पर मिलते हैं। तथापि, वे पहले से (?) ताम्र-प्रौद्योगिकी से परिचित थे तथा सल्फाइड अयस्को (यानी कैल्कोपाइराइट्स) को गलाना जानते थे।

ऐसा लगता है कि ताम्र-पाषाण सस्कृतिया, जो इनकी उत्तराधिकारिणी तथा कुछ मामलो मे कनीय समकालीन है, केवल देशी आक्साइड अयस्को का प्रयोग करती थी। केवल अहाड ही एक ऐसा अपवाद है जहा कैल्कोपाइराइट के गलाये जाने का साक्ष्य मिलता है।

(घ) टिन के स्रोत

टिन के बारे मे भी यही सत्य है। यद्यपि एक समय यह माना जाता था कि उत्तरी ईरान के अन्तर्गत खोरासान तथा करदाघ जिलो से टिन का आयात होता था (मार्शल, १, पृ ४८३), लेकिन अधिक सभावित स्रोत कैसिटेराइट के कछारी भडार हैं। अपने पीछे खनन का कोई साक्ष्य छोडे बिना ही, इन छोटे-छोटे भडारो का उपयोग हो गया होगा (वत्स, १, पृ ३८० मे सना उल्ला)।

बाद मे इसी प्रकार लोहे का काम हुआ। कच्छ मे तथा अन्यत्र धरातल की चट्टानो मे लेटराइट अथवा लोहा है। घुमन्तू लुहार इसे गलाकर उपकरण तथा आयुध बनाते थे।

(ङ) मिश्र धातुए

अग्रवाल द्वारा नूतन अध्ययन (१९६८, पृ १७६) से सकेत मिलता है कि हडप्पा सभ्यता के लोग जानबूझ कर आर्सेनिक, रागे तथा टिन को मिला कर धातुए बनाते थे (यद्यपि अधिक मामलो मे स्वत अयस्क मे ही इन तत्वो के होने के कारण ऐसा होता होगा)। अहाड के लोग केवल रागे का मिश्रण करते थे (क्योंकि यह सहज प्राप्य था), जोर्वे तथा मालवा के लोग रागे तथा टिन का खोट बनाते थे, लेकिन ताम्र-सचय वाले लोगो ने केवल शुद्ध ताबे की वस्तुए बनायी (यद्यपि स्मिथ द्वारा चार आयुधो के पूर्व के विश्लेषण (१९०५) मे ३ ८३ प्रतिशत से १३ ३ प्रतिशत के बीच टिन का बहुत अच्छा अनुपात ज्ञात हुआ है)।

हडप्पा तथा हडप्पोत्तर सस्कृतियो के बीच न केवल एक बडा सास्कृतिक अन्तराल ही है, बल्कि प्रौद्योगिकी मे भी हडपोत्तर सस्कृतिया अत्यधिक पिछडी हुई थी।

अग्रवाल के अध्ययन (१९६८, पृ. १७५) से मालूम होता है कि हडप्पा सभ्यता के लोग खोट को मजबूत बनाने के लिए जानबूझकर टिन तथा ताम्बा

मिलाते थे एवं बन्द ढलाइयो के निमित्त आर्सेनिक को विआक्सीकरक के रूप मे मिश्रित करते थे, जबकि हड़प्पोत्तर काल मे टिन का मिश्रण छिटपुट है, तथा स्वत अयस्क मे ही थोडी मात्रा मे उपस्थित हो तो हो, आर्सेनिक प्राय अनुपस्थित है।

(च) ढलाई की तकनीके

ढलाई की तीन प्रमुख पद्धतियां है

(१) खुली ढलाई अथवा साचे मे ढलाई

(२) बन्द साचे मे ढलाई

(३) सिरे पेरड्यू अथवा नष्ट-मोम-पद्धति

खुली ढलाई

खुले साचे सबसे आम तथा प्रयोग मे सबसे आसान है। इनमे पिघली हुई धातु को ग्रहण करने के लिए साचे की सामग्री—पत्थर एव दुर्गलनीय मिट्टी—मे एक गड्ढा बनाया जाता है।

हड़प्पा तथा बाद की ताम्र-पाषाण सस्कृतियो के सभी चिपटे कुठार खुले साचो मे बने हैं। जैसा कि चन्हुदडो से दृष्टात मिला है, ये हड़प्पा सस्कृति मे पत्थर के होते थे (मैके, १९४३)।

दोहरा साचा

अभी तक कोई दोहरा साचा नही मिला है, लेकिन गुनगेरिया से प्राप्त कुठारो की धारो पर कटक दीख पडते हैं। अतएव अग्रवाल द्वारा यह निष्कर्ष (१९६८, पृ १८५) निकाला गया है कि ये कुठार दोहरे साचे मे बनते थे। शाहजहापुर तथा शाहाबाद से प्राप्त बछियों मे इसी तरह के कटक देखे गये है। यदि इन निरीक्षणो की पुष्टि हो जाती है, तो हमे कहना पडेगा कि दोहरे साचे मे ढलाई की तकनीक पूर्वी मध्य भारत मे ताम्र-सचयो के युग मे प्रचलित थी।

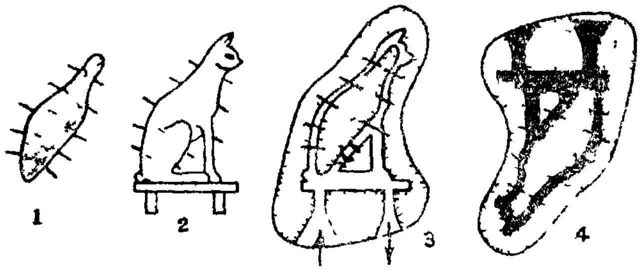
बन्द साचे में ढलाई

बन्द साचे मे ढलाई बहुत कठिन होती थी तथा इसके सफल कार्यकरण के लिए ताम्र-कास्य प्रौद्योगिकी का अच्छा ज्ञान आवश्यक था। बन्द साचे दो या अधिक जुडने वाले प्रस्तर-खडो से बनाये जाते थे।

खोखली ढलाई तथा नष्ट-मोम-पद्धति (अथवा सिरे पेरड्यू तकनीक)

ये दोनों तकनीकें एक तरह से सम्बन्धित हैं, दोनो ही साधारण खुली

तथा बन्द ढलाइयो से अपेक्षा कृत अधिक जटिल होती हैं। सर्वप्रथम नष्ट-मोम-पद्धति को लें (चित्र-१६)।



चित्र-१६

ढलाई की सिरे पेरड्यू अथवा नष्ट-माम तकनीक

१ चैपलिटदार कोर।
२ मोम का नमूना।
३ नाली द्वारा माम का निकास।
४. पिघली हुई धातु से भरा हुआ।

(अग्रवाल, १६६८, चित्र-१४ के अनुसार)

(१) इसमे बनाया जाने वाला नमूना पहले मोम म मिटटी की कोर पर बनाया जाता था। मोम की मोटाई अपेक्षित धातु की मोटाई पर निर्भर करती थी।

(२) मोम के नमूने के बाद मिट्टी का एक बाहरी साचा बनाया जाता था। इसमे मोम के पिघल जाने पर नाली द्वारा उसके बाहर निकलने के लिए अनेक युक्तिया होती थी, जैसे छिद्रदार प्याला (जिस मार्ग से धातु साचे मे डाली जाती है), रनर (नालिया), उत्तिष्ठक, तथा सूराख।

(३) इसके बाद इसको तपाया जाता था ताकि मोम पिघल कर बाहर निकल जाय। इस क्रिया के दौरान मिट्टी का भीतरी कोर स्थान बदल सकता था। अत इसे रोकने के लिए चैपलिटो (पतली शलाकाओ) को निविष्ट किया जाता था जो बाहरी साचे तक कोर को पकडे रहते थे, बाद मे ये ढली हुई अतिम वस्तु का अग बन जाते थे।

(४) तत्पश्चात् इस प्रकार बने कोटर मे पिघली धातु उढेल दी जाती थी।

(५) फिर बाहरी मिट्टी का साचा तोड दिया जाता था, भीतरी कोर कभी शेष रह जाता था और कभी खडित हो जाता था।

(६) साचा टूटने पर ढली हुई वस्तु बाहर निकल आती थी, लेकिन

इसकी सतह खुरदरी रहती थी। बाद मे इसको पालिश द्वारा चिकना बनाया जाता था।

सिरे पेरड्यू पद्धति का एकमात्र ज्ञात उदाहरण मोहेंजोदडो से प्राप्त नर्तकी बालिका की मूर्ति है, यद्यपि सना उल्ला ने (बिना कारण बतलाए) कहा है कि यह पद्धति सम्भवत अज्ञात थी (वत्स, १, पृ ३८१)। तब के बाद से मोहेजोदडो से एक और ताम्र-कास्य मूर्ति तथा लोथल से पशु-पक्षियो के कुछ सुन्दर खिलौने प्राप्त हुए हैं जो इसी तकनीक से बने होगे (राव, १९६२, चित्र ३१-३४)।

घुमाना तथा खरादना

इन पद्धतियो मे, जैसा कि नामो से अर्थ निकलता है, ताम्र एव कास्य वस्तुए खराद पर बनायी जाती थी। बाद की ताम्र-पाषाण सस्कृतियों को छोड दें तो अभी तक सिन्धु (हडप्पा) सभ्यता मे इसके अस्तित्व का कोई स्पष्ट साक्ष्य नही मिला है। तथापि मैके ने यह सुझाव दिया है कि थालिया तथा ढकने (मार्शल, फलक CXL, ४, ५) खराद पर नहीं घुमाये जा सकते। इस समस्या को निश्चित करने के लिए खराद-चिन्हो का कोई अस्तित्व नही मिलता (अग्रवाल, पृ १८२)।

धातुओं को जोडने की पद्धति अथवा तकनीक

आजकल वेल्डिग के अतिरिक्त टाका लगाकर जोडना, जुडन-पिघलन अथवा ढलाई तथा तपाई नामक दो और पद्धतिया प्रयोग मे है। दोनो बहुत पुरानी पद्धतिया हैं तथा सिन्धु-सभ्यता तक इनका पता लगाया जा सकता है, यद्यपि परवर्ती काल मे अभी तक इनका उपयोग अभिप्रमाणित नही हुआ है।

पघलन (रनिंग आन)

इस पद्धति मे यह आवश्यक है कि जुडने वाले भाग बिल्कुल साफ हो। पिघले हुए कासे को इन भागो पर डालने पर उनके साथ उसका सलयन हो जाता था। नोकदार तलवार तथा उसकी मूठ जोडने मे बहुधा इस पद्धति का प्रयोग होता था। यह कहा गया है कि मोहेजोदडो से प्राप्त अनेक बर्तनो मे यह तकनीक दिखायी पडती है (मार्शल, १९३१, अग्रवाल, पृ १८४)।

टांका लगाकर जोडना (सोल्डरिंग)

इसमे धातु के दो टुकडो को किसी भिन्न खोट से, जिसमे पिघलाव-बिन्दु अपेक्षाकृत निम्न रहता है, जोड दिया जाता है।

सिन्धु अथवा बाद की ताम्र-पाषाण संस्कृति के स्थलो से ताम्बे के टाके का दृष्टान्त अभी तक प्रकाश मे नही आया है। लेकिन सना उल्ला के अनुसार हमारे पास सोने तथा चादी के टांके के दृष्टान्त हैं।

रिपिट लगाना (रिवेटिंग)

छोटी शलाकाओ से, जिनके दोनो छोर हथौडे से पिटे होते थे, धात्विक अथवा अधात्विक पदार्थों को जोडने को रिपिट (रिवेटिंग) कहते हैं। असली रिपिटो मे इन छोटी शलाकाओ मे गुम्बददार अथवा शक्वाकार शीर्ष होते हैं।

धातु के रिपिट के प्राचीनतम दृष्टान्त मोहेञ्जोदडो मे मिलते हैं (मार्शल, १९३१, पृ ३६९, अग्रवाल, १९६८, पृ १८४) तथा रिपिट के छेद धातु के कगनो, चाकुओ तथा बर्छों मे देख गये है।

वेल्डिंग

जोडने की यह पद्धति, जो आजकल बहुत प्रचलित है, अपेक्षाकृत हाल की तकनीक है। वेल्डिंग तीन प्रकार से की जा सकती है

(१) दाब-वेल्डिंग, ठडी अथवा गर्म, सलयनरहित (जैसे जूतो के तल्लो मे),

(२) प्रस्वेदन अथवा दबावरहित सतह-वेल्डिंग, जोडे जाने वाले क्षेत्रो को बीच मे टाका लगाकर जोडा और तपाया जाता है।

(३) सलयन-वेल्डिंग, जिसमे लगभग पिघलाव-बिन्दु तक धातुओ को तपाया जाता है और बाद मे उनके सलयन हेतु हथौडो से पीटा जाता है।

यद्यपि हडप्पा सभ्यता के लोग टिन तथा ताम्बे को मिलाना जानते थे, फिर भी चपटे कुठार, छेनिया, आरे, चाकू, बाण तथा भालो के शीर्ष, उस्तरे, मछली पकडने के काटे तथा मूठदार दर्पण जैसी वस्तुए (शुद्ध) ताम्बे की बनी कही जाती हैं, यद्यपि इस वक्तव्य की और भी पुष्टि की आवश्यकता है, क्योकि ऐसी सभी वस्तुओ की वैज्ञानिक जाच अभी नही हुई है। एक बडे नमूने के परीक्षण के बाद अग्रवाल का विचार है कि निचले स्तरो की अपेक्षा ऊपर के स्तरो मे कासे का प्रयोग अधिक होता था, क्रमश २३ और ९ की प्रतिशतता मे।

विभिन्न वस्तुओ मे प्रयुक्त ताम्बे तीन प्रकार के है

(१) थोडे से सूक्ष्म-मात्रिक तत्वो के साथ शुद्ध ताम्बा।

(२) आर्सेनिक की अच्छी प्रतिशतता के साथ ताम्बा। बन्द ढलाई के लिए आर्सेनिक को विआक्सिडाइजर के रूप मे इस्तेमाल किया जाता था।

(३) मजबूत बनाने के लिए जानबूझकर टिन के साथ ताम्बे का मिश्रण।

हड़प्पा सभ्यता के लोगो को इसकी पूरी जानकारी थी कि मजबूती, लचीलापन, कठोरता तथा चोट झेलने मे समर्थता की दृष्टि से सर्वोत्तम कासे में ८ से ११ प्रतिशत टिन रहना चाहिए, क्योंकि सना उल्ला को बाद मे हड़प्पा से प्राप्त हुई कुल्हाड़ियो तथा छेनियो में ११ प्रतिशत से अधिक टिन नहीं है (वत्स, १, पृ ३८०)।

(छ) हड़प्पा सभ्यता की तकनीकें

सावधानीपूर्ण अध्ययन के फलस्वरूप हड़प्पा के अन्तर्गत ताम्र-कास्य कारीगरी की निम्नलिखित पद्धतियो तथा तकनीको का प्रयोग प्रकाश मे आया है

(१) हथौड़े से पीटना अथवा तप्त कुट्टन तथा तापानुशीतन

(२) खुला सांचा और तापानुशीतन

(१) गोल अथवा वर्गाकार अनुभागयुक्त धातु शलाकाओ से छेनिया हथौड़े से पीटकर निकाली जाती थी।

(२) चाकू, वाण-शीर्ष, भाला-शीर्ष, उस्तरे धातु की चादर से काटकर निकाले जाते थे।

नलीदार बरमे, जो छोर की ओर क्रमश पतले होते है तथा जो पतली चादरो के बने होते हैं, इतनी सावधानी से बनाये जाते थे तथा किसी भी तरह धारो के एक-दूसरे पर बिना चढ़े इतनी पूर्णता से इस तरह गोल किये जाते थे कि ढली हुई जोड़हीन कुडली को हथौड़े से पीटने के निमित्त मैण्ड्रेल के प्रयोग का स्पष्ट सकेत मिलता है (मैके, १९४३, पृ १८६, अग्रवाल, १९६८, पृ १८२)।

(३) ऊपर उठना (रेजिंग)

इसमे गहरे पात्रो तथा कडाहो को, ताम्बे अथवा कासे के सपाट चक्के से, बाहरी सतह को बारम्बार हथौड़े से पीटकर ऊपर उठाया जाता है तथा भीतर वाला भाग धातुकर्मी के स्तभ की सतह के विरुद्ध धीरे-धीरे घूमता रहता है। लगातार हथौड़े से पीटने तथा खराद पर घुमाने स धातु को सकेन्द्रित कुण्डलियो की शृखलाओ द्वारा ऊपर उठाया जाता है।

(४) खोखला करना अथवा धसाकर बनाना

उथले कडाह तथा कटोरे, जिनके भीतर वाले भाग पर हथौड़े के निशान दीख पड़ते है, इसी पद्धति से बनाये जाते थे। ऐसे मामलों मे धातु को किसी काष्ठ-खण्ड मे खोदे हुए प्याले के आकार के गड्ढे पर रखा जाता है तथा

तब तक हथौड़े से पीटा और खराद पर घुमाया जाता है, जब तक वह उस गहराई तथा आकार तक घस नही जाता (कोघलन, १९५१, पृ ८८-९१)।

(५) सिरे पेरडयू अथवा नष्ट-मोम-पद्धति

उक्त चार साधारण पद्धतियो के अतिरिक्त नर्तकी तथा पशु-मूर्तियो जैसी सर्वदिक् वस्तुओ के निर्माण हेतु इस अत्यधिक विकसित तथा जटिल पद्धति का प्रयोग भी किया जाता था। एक नर्तकी की मूर्ति तथा एक हस तथा एक कुत्ते की मूर्ति, जो सभी सर्वदिक् है, लोथल मे मिली हैं, लेकिन यह अभी तक ज्ञात नही है कि ये कैसे बनी थी (आइ ए आर, १९५६-५७, पृ १६, १९५७-५८, पृ १३) तथा राव (१९६२, पृ २३)।

(६) जड़ाव (लपिंग)

यह भी एक विकसित पद्धति है जिसमे पात्र के—कटकयुक्त कटोरे के—दो भागो को एक-दूसरे पर रखकर जोड दिया जाता था। गॉर्डन के अनुसार मोहेजोदडो के द्वितीय तथा चतुर्थ कालो मे इन दो पद्धतियो का प्रयोग होता था (१९५८, पृ ३६)।

(७) तार खींचना

इस तकनीक मे शलाकाओ को, क्रमिक रूप मे छोटे होते छिद्रों वाली एक तस्तरी के भीतर से पार कराया जाता था और ड्रा-प्लेट का उपयोग किया जाता था जो बारम्बार शलाकाओ की लम्बाई को बढाती थी तथा व्यास को घटाती थी। यह तकनीक अभी तक साक्ष्यो से पुष्ट नही हुई है।

(ज) अन्य ताम्र-पाषाण सस्कृतियों मे तकनीकें

सिन्धु अथवा हडप्पा सभ्यता के क्षेत्र से बाहर प्रमुख स्तरीकृत स्थल है

(१) पश्चिमी महाराष्ट्र के अन्तर्गत जोर्वे, नेवासा, चण्डोली, सोनगाव तथा इनामगाव।

(२) मध्य प्रदेश के अन्तर्गत एरण, कयथा और नवदाटोली।

(३) मैसूर के अन्तर्गत ब्रह्मगिरि, टेक्कलकोटा तथा हल्लूर।

(४) दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के अन्तर्गत अहाड तथा बागोड।

(५) उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत हस्तिनापुर तथा अत्रजिखेडा।

(६) बिहार के अन्तर्गत सोनपुर तथा चिरान्द।

(७) पश्चिमी बगाल के अन्तगत पाण्डु राजार ढिबि तथा महिषादल।

इन सभी स्थलो मे सबसे अधिक मिलने वाली वस्तु ताम्बे का सपाट कुठार है, उससे कुछ कम मात्रा मे चूडिया मिली है तथा यदा-कदा—जैसे चण्डोली,

नवदाटोली तथा पाण्डु राजार ढिबि से—भाले के शीर्ष मिले हैं। मनके (नेवासा तथा चण्डोली), मछली पकडने का काटा, चिमटा तथा एक पिन (इनामगाव) तथा हल्लूर मे छोटे-से दोहरे कुठार जैसी वस्तुए भी मिली है।

जोर्वे से प्राप्त छ कुठारो मे से जिस एक कुठार का परीक्षण किया गया वह निम्न कोटि के कासे का बना निकला (सकालिया, १९५५, पृ १)। इसमे १ ७८ प्रतिशत टिन है तथा सम्भवत यह खुले साचे मे ढालकर बनाया गया था (सकालिया तथा देव, १९५५, पृ १५९-६० मे मेढेकर तथा पाठक)। तथापि, वैज्ञानिको ने यह महसूस किया है कि टिन का मिश्रण जानबूझ कर नही हुआ होगा। कुठार मध्य मे मोटा है तथा उसमे पछिया (बट) तथा धार की तरफ क्रमश पतलापन है। अवश्य ही हथौडे से पीटकर ऐसा किया गया होगा तथा इससे धार को सबल बनने मे सहायता मिली होगी जैसा कि मोहेजोदडो के कुठारो के मामले मे मैके का निष्कर्ष है।

जोर्वे से प्राप्त चूडिया शुद्ध ताबे की हैं तथा ढली हुई शलाकाओ की बनी है, जो बाद मे (लम्बाई तथा व्यास के अनुसार) आवश्यक आकार मे काटी गयी होगी। यद्यपि तापानुशीतन हुआ है, किन्तु यह निश्चय नही हो सका है कि यह सोद्देश्य था अथवा अन्यथा।

ताम्बे तथा निम्न कोटि के कासे का वैसा ही अधाधुध उपयोग निकट के स्थल, नेवासा मे देखा जाता है। तीन नमूनो—एक छेनी, एक चूडी तथा एक मनके—का परीक्षण ट्राम्बे मे किया गया। छेनी मे २ ७२ प्रतिशत टिन था, जबकि चूडी व मनके मे लगभग शत-प्रतिशत ताम्बा था। प्रथम दो ढले हुए थे तथा खोखला मनका हथौडे से पीटकर बनाया गया था (सकालिया तथा अन्य, १९६०, पृ ५२३-२४)।

तथापि, चण्डोली के अन्तर्गत घोड नदी पर एक समान सास्कृतिक मस्तर से एक कुठार तथा भाले का शीर्ष मिला है, जिनमे टिन बिलकुल नही है। यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि कुठार दोषपूर्ण ढलाई तकनीक द्वारा बना था। साचे मे, फैलने वाली गैसो के निकलने के लिए उपयुक्त व्यवस्था नही थी, फलस्वरूप इन गैसो ने भीतर बंद रह कर धातु को छिद्रपूर्ण बना दिया था। तथापि, ढलाई के बाद इसको तप्त कार्यान्तिर्गत रखा गया तथा गर्म राख के भीतर धीरे-धीरे ठडा होने दिया गया। कठोर बनाने की क्रिया इस पर नही की गयी। इससे हेज ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जहा गर्म धातु को हथौडे से पीटकर काटने वाली धार को गढा जाता था, वहां कुठार के प्रमुख अग पर तप्तकुट्टन नही किया जाता था। धार के किनारे-किनारे ही कुठार को तपाया जाता था (हेज, पृ १५५)।

कुछ और दक्षिण की ओर, टेक्कलकोटा मे ताम्बे का कुठार मिला है, जिसमें सूक्ष्म-मात्रिक तत्व थे, लेकिन टिन नही था (नागराज राव तथा मल्होत्रा, १९६५, पृ १६३ मे हेज)।

इसके विपरीत, नवदाटोली से प्राप्त पाच कुठारो मे से एक शुद्ध ताम्बे का है, लेकिन एक शलाका मे १२ प्रतिशत टिन है (सकालिया तथा अन्य, १९५८, पृ XII मे अणु ऊर्जा सस्थान की सक्षिप्त रिपोर्ट)। तथापि, हेज द्वारा अधिक पूर्ण परीक्षण के फलस्वरूप पता चला कि कुठार मे ३ १ प्रतिशत टिन था। इस प्रकार यह भी कासे का ही है। यह कुठार पहले ढाला गया, तत्पश्चात् उसे वर्तमान आकार तथा इसकी ऊपरी सतह को चिकनाहट प्रदान करने के लिए उष्ण-शीत कारीगरी एव सविराम तापनुशीतन के अधीन रखा गया (हेज, पृ १४९)।

उसी स्थल से प्राप्त छेनी पर पहले शीत कारीगरी हुई तथा बाद मे उसका पुनर्क्रिस्टलन किया गया। अन्तिम बार तपाये जाने के बाद उसे धीरे-धीरे ठडा नही होने दिया गया और न ही ठडा होते समय गर्म राख के अन्दर ढका गया। इसके बदले उसे वातावरण मे खुला रखा गया। इससे शीघ्रतर ठडापन आया तथा फलस्वरूप बारीक दानेदार बनावट प्राप्त हुई (हेज, पृ १५१)।

सम्भवत, हडप्पा सभ्यता के प्रभाव के अवशेष के रूप मे सोमनाथ से कासे का एक कुठार प्राप्त हुआ है। इसकी बाहर की ओर फैली हुई धार सविराम तापानुशीतन के साथ-साथ बारम्बार शीत कारीगरी द्वारा गढी गयी थी। यानी कुठार का धार वाला हिस्सा, तप्त-कुट्टन क्रिया द्वारा गढा हुआ था, शेष हिस्सा नही (हेज, पृ १५९)।

लघनाज मे अभी तक ताम्बे की केवल एक वस्तु (चाकू) प्राप्त हुई है। यह शुद्ध ताम्बे की पायी गई तथा उष्ण-शीत कारीगरी के द्वारा यह वर्तमान आकार मे गढ दी गई। इससे विकसित तकनीक का पता चलता है (हेज, पृ १६३)।

अहाड की सामग्री के नमूने—एक कुठार, ताम्बे की चादर, धातु-मल—साथ ही खेत्री से प्राप्त अयस्क के नमूने का हेज ने वर्ण-क्रम-दर्शी तथा धातु-विज्ञान सम्बन्धी परीक्षण द्वारा अध्ययन किया। इन अध्ययनो मे प्रकट होता है कि

(१) ताम्बा सम्भवत जयपुर के निकट अरावली शृखलाओ से प्राप्त किया जाता था।

(२) ताम्बा अहाड मे गलाया जाता था।

(३) सिलिका (सम्भवत स्फटिक के खण्डो को तोड कर उनकी स्थानीय तौर पर पिसाई की जाती थी) के साथ कुठार को प्लावित करके गलाने की क्रिया की जाती थी ।

(४) कुठार की धातु बहुत ही अशुद्ध है, जिसमे ६ ४८ प्रतिशत लोहा है ।

(५) कुठार को अपरिष्कृत बालू अथवा मिट्टी के साचे मे ढाला गया तथा ढली अवस्था मे छोड दिया गया । इस पर कठोर बनाने की क्रिया नही की गई । सम्भवत, साचे को गर्म राख के अन्दर ढककर धीरे-धीरे ठडा किया गया । इस प्रकार की धीमी प्रशीतन स्थितियो मे अशुद्धताए कोशकीय सीमाओ के आस-पास फैल जाती हैं (सकालिया तथा अन्य, १९६९, पृ २२८ मे हेज) ।

इसके अलावा, सम्भवत साचा अपरिष्कृत था तथा उसमे हवा के आने-जाने के लिए छिद्र नही बनाये गये थे । अतएव धातु की भीतरी सतह मे द्रुमाकृनिक वियोजन, गैस के छिद्रो के कारण छिद्रबहुलता, दरारें तथा गोलाकार भूरे अन्तस्थ पिड दीख पडते थे । इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि अहाड मे ढलाई विकसित नही थी ।

धातु-मल के नमूनो के परिमाणात्मक रासायनिक विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि तत्कालीन प्रचलित पद्धति सुविकसित थी । गधक तथा आर्सेनिक सदृश वाष्पशील तत्वो के उन्मूलन के लिए अयस्क को पूर्णत भूना जाता था । इसके अतिरिक्त, अयस्क के सलयन के तापक्रम को घटाने के लिए तथा अयस्क के अन्दर की अशुद्धताओ से निकाली हुई धातु के अलगाव को सुकर बनाने के लिए अयस्क को सिलिका के साथ अभिवाहित किया जाता था ।

छ अन्य धातुए

(क) लॉलिंगाइट

लगता है, लॉलिंगाइट अथवा ल्युकोपाइराइट तथा सेरूसाइट (रागे का एक प्राकृतिक कार्बोनेट) एव सिन्दूर (पारद का सल्फाइट) को हडप्पा सभ्यता के लोग चिकित्सीय उद्देश्यो के लिए व्यवहार मे लाते थे लॉलिंगाइट तथा सिन्दूर को क्रमश आर्सेनिक तथा पारद निकालने के लिए एव सेरूसाइट को अंगरागो के लिए (मार्शल, १९३१, १, पृ ६९०-९१ मे सना उल्ला) ।

(ख) सोना, चादी तथा एलेक्ट्रम

ये तीनो मूल्यवान धातुए ज्ञात थीं तथा उनका उपयोग काफी आम था, सम्भवत चादी का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक होता था । तथापि, धातुओ की प्राप्ति के स्रोत क्या थे तथा किन-किन अयस्को का उपयोग होता था, यह अभी तक निश्चित नही हो सका है । दैमाबाद मे सोने की कुण्डलिया

मिली हैं (आई ए आर, १९५८-५९, पृ १८)। कहा जाता है कि नवपाषाण काल में दक्षिण भारत मे खान से सोना निकाला जाता था (आलचिन, १९६२)। इस निष्कर्ष के लिए कोई असदिग्ध साक्ष्य नही है। अधिकतम सम्भावना यह है कि सोना नदी के बालू मे से एकत्र किया जाता था तथा बाद में गलाया जाता था। जो भी सत्य हो, पर दकन मे कम से कम २००० ई पू के लगभग सोने की जानकारी थी तथा उससे आभूषण बनाये जाते थे (नागराज राव तथा मल्होत्रा, १९६५, पृ ७४) तथा उससे कुछ पूर्व का हड़प्पा सभ्यता का साक्ष्य है। हड़प्पा से हमे केवल ऐसी चूडिया ही नही मिली है, जो ४००० वर्षों के बाद भी अपनी चमक तथा अन्तिम गठन को बनाये हुए हैं, अपितु यह भी पता चला है कि सुनार ने सूक्ष्म मनके बनाने की कला अर्जित कर ली थी। वस्तुत हार मे गुथे हुए हजारो मनके, लोथल तथा रोजडी से प्राप्त हुए है (आई ए आर, ५६-५७, पृ १६, फलक XV, C)। सभवत, ये सूक्ष्म मनके ठीक सिलखडी के मनको की तरह ही बनाये जाते थे।

एलेक्ट्रम (सोने तथा चादी का खोट) के उपयोग का भी कुछ साक्ष्य है। अभी तक यह निश्चय नही किया जा सका है कि यह अयस्क से निकाला जाता था अथवा अन्य धातुओ के मिश्रण मे बनाया जाता था। डा हमीद द्वारा विश्लेषित नमूने से यह सुझाव मिलता है कि चादी रजतयुक्त गैलेना से निकाली जाती थी (मार्शल, १९३१, पृ ५२४)।

कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि हड़प्पा सभ्यता के लोगो को धातु-विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान था। सोने तथा चादी की वस्तुओ के निर्माण से ढलाई तथा साथ ही रेती से घिसाई के ज्ञान का भी पता चलता है। टाका लगाने का काम इतनी कुशलता से किया जाता था कि जोड दिखायी तक नही पडते। यदि टेक्कलकोटा से प्राप्त दो ठोस सोने के आभूषण ढलाई से नही बने है, तो यही बात दक्षिणी नवपाषाण-सस्कृति के विषय मे भी कही जा सकती है।

ज हड्डी तथा गजदन्त के उपकरण

यदा-कदा कुछ उपकरण अथवा औजार, जैसे नोके, सूए तथा विरलत चाकू एव मछली पकडने के काटे दकन के नवपाषाण तथा ताम्र-पाषाणकालीन वास-स्थलो से मिले हैं। अपेक्षाकृत परिष्कृत वस्तुए कश्मीर के अन्तर्गत बुर्ज-होम मे नव-पाषाण युगीन वास-स्थल से प्राप्त हुई हैं (आई ए आर, १९६१-६२, पृ १९ तथा फलक XXXVII, बी)। हड़प्पा सभ्यता से अभी तक बहुत कम औजार मिले हैं (मैके, १९३८, पृ ४३१, फलक CV, ५५)।

सामान्यत हड्डी के टूटने से लम्बी खप्पचिया बनती हैं। परन्तु ऐसे भग्न

खण्ड का उपयोग (अधिक दिनो तक) नही हो सकता है। मानव ने शीघ्र ही पता लगाया कि ऐसी टूटी हुई अथवा प्राय पतली, लम्बी अथवा सिरे वाली हड्डियो का उपयोग हो सकता है। इन्हे नोकदार बनाना तथा बाद मे रगडना पडता है। इससे वस्तु की कठोरता बढ़ जाती है।

अभी तक प्रस्तर-युगीन सचयो से गजदन्त के उपकरण अथवा अन्य वस्तुए नही मिली हैं। लेकिन ये, पश्चिमी तथा पूर्वी यूरोप की भाति, पत्थर के आरे से सावधानीपूर्वक काटी हुई पायी गयी हैं तथा बाद मे उन पर उत्कीर्णक (ग्रेवर) से काम किया गया मिलता है।

मोहेंजोदडो तथा चन्हुदडो मे ये कम मिली हैं, लेकिन हडप्पा मे अपेक्षाकृत कुछ अधिक सख्या मे प्राप्त हुई हैं (वत्स, १, पृ ४५६)। सपाट आधारयुक्त दण्ड जैसी एक वस्तु खराद पर बनायी गयी मिली है। मोहेंजोदडो के सदृश, जहा बाद के उत्खननो (मैके, १६३८, पृ ५७६) मे अनेक गजदन्त पाये गये, चन्हुदडो तथा लोथल मे भी एक-एक गजदन्त पाया गया जिनसे स्थानीय उद्योग होने का सकेत मिलता है। तथापि, मैके इस सामग्री को काटने मे कारीगरो के सम्मुख उपस्थित कठिनाई की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। एक अपूर्ण गजदन्त के फलक (फ्लेक) मे आरे के चिन्ह प्रत्येक दिशा मे जाते हुए पाये गये है (मैके, १६३८, पृ ५७६, फलक CV, ५७)।

भ भवन-निर्माण तकनीकें

मृद्‌भाण्डो की तरह ही भवनो के आद्यतम चिन्ह बलूचिस्तान के अतर्गत किली-गुल-मोहम्मद तथा अन्य मस्कृनियो मे (मुख्यत दम्ब सादात अथवा स्थल क्यू २४ से) पाये गये है। आद्यतम को छोडकर, इनका काल मोटे तौर पर चौथी सहस्राब्दी ई पू का प्रारम्भ माना जा सकता हे। इन भवनों की दीवारें मिट्टी की हैं, कभी-कभी ये शिलाखडो के एक ही अनुक्रम पर बनी मिली ह जिनकी दरारें छोटे-छोटे पत्थरो से भरी हुई है, अथवा जैसा कि समूह-२ मे है—चिपटी, मोटे तौर पर आयताकार, पत्थर की शिलाए लम्बायमान रखी हुई है। टूटी ईंट, कठोर मिट्टी, लकडी के कोयले, मिट्टी के बर्तन के टुकडों अथवा ककडो से फर्श के निर्माण का कुछ साक्ष्य मिलता है। यह प्रविधि बहुत हाल तक प्रचलित थी तथा इसे कोबा कहते थे। दीवारो मे लकडी के खम्भो की टेक है। कभी-कभी दीवारें पतले ककडो की नीव पर अथवा पुरानी ईंटो की दीवारो पर खडी की जाती थी। छतें सभी फूस से छायी जाती थी।

अच्छे नियमित आयताकार कमरे का ढाचा बनाने के अतिरिक्त, उनमे कोई अधिक अभियत्रण कौशल नहीं है। शिलाखडो अथवा पत्थर के टुकडो का उपयोग स्वाभाविक एव सामान्य बात है।

प्रायद्वीपीय भारत (दक्षिण भारत) तथा गंगा की घाटी मे समूचे ताम्र-पाषाण काल में नरकुल और मिट्टी से भवनों का निर्माण होता था, केवल कुछ क्षेत्रो मे अलग पद्धतिया थी, जैसे नवदाटोली मे, जहा लकडी के खम्भे एक-दूसरे के बहुत नजदीक खडे करके अधचिरे बासो को उन पर बिछा दिया जाता था तथा दोनो तरफ मिट्टी का पलस्तर देकर सफेदी कर दी जाती थी, या फिर जैसे अहाड मे, जहा पत्थर के अच्छे प्लिन्थ बनाये जाते थे, क्योंकि चट्टानो के खण्डक वहा सहज उपलब्ध थे (सकालिया तथा अन्य, १६६६)।

दक्षिण अथवा प्रायद्वीपीय भारत मे ऊपर से चपटे ग्रेनाइट के फलकों का उपयोग किया जाता था। यहा भी आवश्यकतानुसार पत्थर के चपटे खण्डो से गड्ढो को बराबर करके समतल सतह बनायी जाती थी ताकि पानी एकत्र नही होने पाये। इस पर मिट्टी इत्यादि फैलायी जाती थी तथा रहने के उपयुक्त फर्श बनाया जाता था। तथापि, जहा समतल सतह रहती थी, वहा गड्ढे खोदकर खम्भे गाड़े जाते थे। इस प्रकार, सभवत शक्वाकार छतयुक्त नरकुल और मिट्टी की गोल झोपडी बन जाती थी (अन्सारी तथा नागराज राव, १६६४-६५)।

यह सचमुच विचित्र, बल्कि रहस्यपूर्ण है कि ऐसी पुरातन पद्धतिया प्रचलन मे बनी रही, जबकि सम्पूर्ण पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी भारत मे, जिसमे पश्चिमी उत्तर प्रदेश के भाग भी शामिल हैं, नगर-योजना तथा भवन-निर्माण की अधिकतम विकसित पद्धतिया तथा तकनीके प्रचलित थी। दरअसल, हडप्पा तथा सिन्धु सभ्यता के किसी भी उत्खनित नगर मे जो कुछ देखने को मिलता है, वह अब भी आज के किसी सिविल इजीनियर तथा वास्तुविद् के लिए पाठ का काम कर सकता है।

सिन्धु अथवा हडप्पा सभ्यता के नगर का अभिविन्यास शतरज पट की तरह होता था, जिसमे मोहेजोदडो की उत्तर-दक्षिणी हवाओ का लाभ उठाते हुए सडकें करीब-करीब उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम को जाती थी। ऐसे सावधानीपूर्ण विन्यास के पूर्व भूमि का समोच्च सर्वेक्षण (कट्टर-सर्वे) हुआ करता होगा तथा कम्पास (दिक्सूचक) एव फुटरूल जैसे उपकरण भी अवश्य अस्तित्व मे रहे होगे। मोहेजोदडो तथा लोथल, दोनो से लम्बाई नापने का सीप का उपकरण (क्योंकि यह सामग्री किसी अवस्था मे सिकुडती नही है) तथा एक कास्य-शलाका मिली है (वत्स, १, पृ. ३६५, ह्वीलर, १६५३, पृ. ६२)। इन मापक शलाकाओ मे दो प्रणालिया हैं, "फुट" तथा "हाथ" सीप मे १३ २ इच माप की "फुट" प्रणाली है, कास्य-शलाका मे लगभग २० ७ इच के माप की हाथ-प्रणाली है।

दीवारो की लम्बवत् सीध मिलाने के लिए साहुलो का उपयोग होता था। इसके अतिरिक्त, बाहर की रोक-दीवारो की, प्रत्येक अनुक्रम को थोडा पीछे लगाकर तथा विशेषकर साचे मे बनी ईंटो के उपयोग से भी, अच्छी तरह सीध मिलायी गई है (मार्शल, फलक LXXII, c)।

चूकि मकान तथा अन्य भवन मुख्यत आयताकार होते थे, अतएव वास्तु-कला की और अधिक जटिल तकनीको की सम्भवत आवश्यकता नहीं पडती थी। डाट पत्थर के मेहराब की जानकारी नही थी, यद्यपि यह कठिन नही होना चाहिए था, क्योकि ऐसी वक्र सतहे वेज-आकार वाली ईंटो से जोडी जा सकती थी। ट्रिबिट-रचना के लिए टोडेदार (छज्जेदार) मेहराब—उदाहरणार्थ ऊची छतवाली नाली का निर्माण—को अधिक उपयुक्त समझा जाता था।

अभी तक कोई गोल स्तम्भ नही मिला है, सम्भवत इसलिए कि इसकी आवश्यकता नही थी (यद्यपि मार्शल मोहेजोदडो के अन्तर्गत एक स्तम्भवाले हाल की चर्चा करते हैं। लेकिन इसका दृष्टान्त रेखाचित्र मे नही मिलता और यह कहना कठिन है कि ये स्तम्भ गोल है अथवा वर्गाकार), जबकि स्वाभाविक गोल स्तम्भ पेड के तनो के रूप मे हो सकते थे। इन पर सम्भवत चूने पत्थर के स्तम्भ शीर्ष रहे होगे।

मकानो की नीव सावधानी से तैयार की जाती थी, कभी-कभी ईंटो की दो नीवो के बीच भराव किया जाता था। इसके अतिरिक्त, मकानो के लिए तथा बाढ से उनके सरक्षण हेतु कृत्रिम चबूतरे बनाये जाते थे। कालीबगन के मकानो का कुछ धार्मिक महत्व भी रहा होगा (लाल तथा थापर, १९६७, पृ ८२)।

इन चबूतरो तथा साथ ही अन्य प्रमुख दीवारो मे रोक-दीवार रहती थी, जिसका पता कालीबगन की हडप्पा-पूर्व की दीवारो से भी लगा है।

ईंटें भूसे-जैसी किसी सयोजी सामग्री के बिना ही असाधारण रूप से सुनिर्मित है। ये खुले साचे मे बनायी जाती थी तथा इनके शीर्ष पर लकडी का टुकडा ठोका जाता था, परन्तु उनके आधार एकरूपत कठोर है जिससे यह सकेत मिलता है कि वे धूलभरी जमीन पर बनाकर सुखाये जाते थे। चटाई पर बनी ईंटें नही मिली है (यद्यपि नेवादा, टेक्कलकोटा तथा साथ ही बुर्ज़होम से प्राप्त बडे-बडे सचय-पात्रो पर चटाई के दाग हैं)। ईंट बनाने के लिए लवणहीन जलोढ-मिट्टी का उपयोग होता था। वे अच्छी तरह पकायी जाती थी, लेकिन अपने रग मे अनुपातित नही होती थी। दो उदाहरणो को छोडकर, इनमे नालिया अथवा छापें नहीं है। तथापि, ईंटो के ऊपर पालतू पशुओ, कौओ, कुत्तो, तथा बिल्ली-जैसे किसी पशु के पैरो के

चिन्ह मिलते हैं, जिससे यह सकेत मिलता है कि ईट बनाने का स्थान खुले मे होता था। खुले मे ईंटें बनाने के ऐसे स्थान का साक्ष्य गुजरात के अन्तर्गत देवनीमोरी (मेहता तथा चौधरी, १९६६) मे मिला है तथा अब भी यहा खुले मे ईंटें बनती है।

स्नान-गृहो की सतह एकरूपत अच्छी तरह बनायी जाती थी तथा सही जोड एव समतल के लिए ईंटें बहुधा आरे से काटी जाती थी। इसके अतिरिक्त, उन्हे रिसाव-रोधी बनाने के लिए जिपसम से पलस्तर किया जाता था। कुछ थोडे-से ही मामलो मे इस उद्देश्य से डामर (बिटुमन) का उपयोग मिलता है। कारण यह कि खडिया सहज उपलब्ध थी, जबकि डामर का आयात करना पडता था। बहरहाल, अपवादस्वरूप ही डामर का उपयोग होता था। सामान्यत गारे के रूप मे पक का उपयोग होता था तथा कभी-कभी चूने का, जिसको जलाकर बढिया चिनाई के लिए सीमेट की तरह उपयोग किया जाता था (मैके, १९३८, पृ ५९८)।

अधिकाश दीवारो मे ईंटे हेडर (ईंटो का लम्बवत् अभिन्यास) तथा स्ट्रेचर (ईंटो का दीवार की मुटाई के साथ-साथ लम्बवत् अभिन्यास) के अनुक्रम मे बिछाई जाती थी, इगलिश जुडाई की तरह जोडो के बीच मे स्थान छोडने मे सावधानी बरती जाती थी।

इसके अतिरिक्त स्नानगृह मे, खासकर किनारो तथा कोनो को ठीक-ठीक बनाने हेतु, आकारानुकूल ईंटे काटी जाती थी। पुन कुछ स्नानगृहो मे सम्भवत अवतलन के परिहार हेतु नीवे चार से पाच अनुक्रमो की मोटाई तक रहती थी। इसके अतिरिक्त, स्नान-सतह को एक कोने की ओर, जिधर पानी बहने वाली नाली रहती थी, ढालू बनाया जाता था, पुन, जब स्नान-कुड (बाथ) पूरे कमरे मे होता था, तब दीवारो के आधारो की, पार्श्वाभिन्यस्थ ईंटो की तख्ताबन्दी करके, रक्षा की जाती थी, जिसे स्नान-कुड के फर्श मे दो अथवा तीन इच ऊपर लगाया जाता था।

कमरो का फर्श या तो पकी अथवा धूप मे सूखी ईंटो से या फिर जमीन को पीटकर बनाया जाता था। यद्यपि गलियो मे पकी ईंटो की बन्द नालिया रहती थी, पर मोहेजोदडो अथवा हडप्पा के अन्तर्गत नालियो पर ईंटे नही बिछायी गयी थी। तथापि, कालीबगन के हाल के उत्खनन से पछेनी हडप्पा काल की एक गली मिली है, जिस पर पकी मिटटी के ढेलो तथा टूटी-फूटी मृण्मय पिंडिकाओ से फर्श किया मिलता है (लाल तथा थापर, १९६७, पृ ८४)। ऐसे अच्छे बने मकानो मे साधारणतम द्वार होते थे। यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि लकडी के दरवाजे चौखटो के साथ ही बन्द होते थे।

पर हम न तो यह समझ सके हैं कि इनमे ताले कैसे लगाये जाते थे, क्योकि केवल एक अथवा दो चौखटो में चटखनी लगाने के छिद्र मिले है। लेकिन इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि एक ही किवाड होता था, न कि दो।* साकेट भी सामान्यत नहीं मिलते।

यह कमी जितनी ही विचित्र है, उतनी ही विलक्षण है सम्पूर्ण जल-निकास प्रणाली। यह आजकल के कई नगरो की किसी जल-निकास प्रणाली से होड ले सकती है। न केवल बन्द नालिया थी जो पकी ईंटो से निर्मित तथा रिसाव-रोधी, अच्छी तरह एक सीध मे बनी हुई एव सडक तथा गली वाली नालियो की ओर ढालू होती थी, बल्कि ऊपरी तल्ले मे पानी की निकासी के लिए टोटी तथा जोडयुक्त पकी मिट्टी के पाइप भी होते थे। इस तरह की विकसित तकनीक केवल क्रीट के अन्तर्गत नोसस मे माइनोन के राजप्रासादो मे देखी गयी है।

कुओ तथा नौका घाटो के निर्माण की जानकारी का उल्लेख भी किया जा सकता है, जिसके लिए द्रवचालिकी (हाइड्रालिक्स) का व्यावहारिक ज्ञान अपेक्षित होता है। बेशक, नौ-परिवहन की तथा पालयुक्त नावें एव जहाज बनाने की तकनीक की जानकारी थी। लोथल (राव, १९६२, पृ २०, फलक VI, चित्र १३) से प्राप्त इनके नमूनो से, मोहेजोदडो से प्राप्त मुहर के ऊपर के उत्कीर्णन पर आधारित उक्त विचार की सम्पुष्टि होती है (मैके, १९३८, १, पृ ३४०, फलक LXIX, ४)।

लोथल मे प्राप्त नौका घाट का माप उत्तर से दक्षिण २१९ मीटर तथा पूर्व से पश्चिम ३७ मीटर है। यह चारो तरफ से भट्ठे मे पकी ईंटो की दीवारो से घिरा है जिनकी अधिकतम ऊचाई ४ ५ मीटर है। काम्बे की खाडी मे प्रवेश करने वाले जहाज ज्वार-भाटे के समय ७ मीटर चौडे तथा २ ५ किलोमीटर लम्बे जल मार्ग से होकर घाट मे लगाये जाते थे। यह मार्ग प्रवेश-मार्ग पर पूर्वी तटबन्ध से मिलता था। ज्वार-भाटे के पानी के तेजी से आते हुए प्रभाव को ईटो की बनी दो दीवारो से रोका जाता था, जो प्रवेश मार्ग के दोनो ओर होती थी।

इस सब से यह निष्कर्ष निकलता है कि लोथल के अन्तर्गत हडप्पा सस्कृति के लोगो को जल-विज्ञान तथा समुद्रीय इन्जीनियरी का अच्छा ज्ञान था (राव, १९६२, पृ १७)।

---

* यह आश्चर्य की बात है कि इस निष्कर्ष को कालीबगन से प्राप्त साक्ष्य मे समर्थन प्राप्त होता है। यहां १९६७ में एक कमरे के द्वार की देहली पर एकमात्र साकेट मिला जिससे यह समझा जाता है कि संभवतः एक पल्लेवाले दरवाजो का प्रयोग होता था (आई ए. आर, १९६७-६८, पृ. ४४)।

यद्यपि ये सही अर्थ मे इस शीर्षक के अन्तर्गत नहीं आते, तथापि डॉल्मेन्स (प्रस्तर मचों) तथा सिस्ट्स (प्रस्तर-ताबूतों) जैसे महापाषाणयुगीन स्मारकों के निर्माण का उल्लेख भी किया जा सकता है। निर्माण मे बड़े-बड़े आकार वाले गोलाश्मो तथा प्रस्तर-खण्डो के नियमित उपयोग से मानव की तकनीकी दक्षता का निश्चित पता लगता है। प्राय. पहाड़ियो पर अथवा उनके सन्निकट इन स्मारको की उपस्थिति से संकेत मिलता है कि प्रस्तर खण्ड पहाड़ियो से सिर्फ लुढका दिये जाते थे। लेकिन यह भी सभव है कि कुछ मामलो मे ये खदानो से निकाल कर हाथो से अथवा गाडी से दूर-दूर ले जाये जाते हो।

ज. बाट

अधिकाश बाट घनाकृतिक है तथा चकमक (चर्ट) के बने है। ये अन्य आकृतियो तथा सामग्रियो से बने बाटो से अधिक सही है। सामान्यत, ये बहुत परिशुद्धता से तत्कालीन अन्य देशो की समकक्षता मे कही अधिक परिशुद्धता से बनाये गये हैं। इन स्थलो मे अधिवास के सम्पूर्ण काल मे बाटो की इकाई मे कोई परिवर्तन नही हुआ। हेम्मी ने सिन्धु के बाटो की महती परिशुद्धता का ही बारम्बार उल्लेख नहीं किया है, बल्कि यह भी कहा है कि "भारत मे हम लोगो को यह लाभ है कि परस्पर-विरोधी पद्धतियो के सह-अस्तित्व से जनित उलझाव मे पड़े बिना, हम लोग बाटो की एक प्राचीन पद्धति का अध्ययन कर सकते हैं।" मिस्र तथा बेबीलोनिया की पद्धतियो के सावधानीपूर्वक अध्ययन के बाद उन्होने निष्कर्ष निकाला कि सिन्धु सभ्यता की पद्धति दोनो से बिलकुल स्वतत्र थी। मोहेंजोदडो से प्राप्त बाटो से निम्नलिखित अनुपातो मे शृ खला बनती है—१, २, ८/३, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२०, ६४०, १६००, ३२००, ६४००, ८०००, १२८०००। इकाई-बाट का परिकलित मूल्य ० ८५७० ग्राम है, सबसे बड़ा बाट १०९७० ग्राम का है (मैके, १९३८, १, पृ ६०१-६०६ तथा पृ ६७२ मे हेम्मी)।

जैसा कि चकमक के बाटो, बर्निशर (चमकानेवाले उपकरण) तथा अधिक कठोर प्रस्तर-मनको से साबित होता है कि फ्लिट, अकीक तथा अन्य कठोर सिलिकायुक्त पत्थरों के काम मे मोहेंजोदडो के लोग अत्यन्त कुशल थे। तथापि, ये सामग्रिया औजारो तथा आयुधो के लिए प्रयोग मे नही लायी जाती थी, उनके लिए केवल ताम्बे तथा कासे का व्यवहार होता था तथा यह स्पष्ट है कि ये धातुए बहुतायत मे मिलती थी तथा सस्ती होती थी। तथापि, साधारण घरेलू उद्देश्यो के निमित्त फ्लिट का प्रयोग होता था। करीब-करीब प्रत्येक घर मे काफी सख्या मे फलक मिले है, इनके साथ वे कोर भी

प्राप्त हुए जिनसे ये तोड़कर निकाले जाते थे। सीर्ष-कटक-फलकों के मिलने से यह स्पष्ट है कि इस तकनीक का प्रयोग होता था (संकालिया, १९६४)।

पछेती ताम्र-पाषाण संस्कृतियो में पत्थर के ठोस गोलों का बाटों की तरह प्रयोग किया जाता था (सकालिया तथा अन्य, १९५८, पृ २४० मे बनर्जी)

ट. वस्त्र

(क) कपास

१९६० तक कपास के प्रयोग का एकमात्र साक्ष्य मोहेजोदडो से मिला था। रोपड से प्राप्त मिट्टी के बर्तन पर कपास के रेशे की छाप के पता लगने से इस ज्ञान मे वृद्धि हुई है। अब नेवासा से एक अतिरिक्त साक्ष्य मिला है।

मोहेजोदडो से प्राप्त कपास के रेशे अत्यन्त कोमल हैं तथा थोडा दबाव देने पर टूट जाते हैं। तथापि, कुछ निर्मित सामग्रिया मिलीं हैं जिनसे सूत की प्राकृतिक सर्पिल बनावट प्रकाश मे आयी है। जिन रेशो का परीक्षण किया गया उन सभी मे फफूद के कवक तनु प्रवेश कर गये थे।

१ रेशा कपास
२ रेशे का वजन दो औंस प्रति वर्ग गज
३ ताने के गणक ३४
बाने के गणक ३४
४ ताने की सूतें २० प्रति इच
बाने की सूतें ६० प्रति इच

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कपास आजकल के अपरिष्कृत प्रकार के भारतीय कपास के से मिलता-जुलता था, तथा गोसिपिअम आरबोरियम से सम्बन्धित पौधे से निकाला जाता था (मार्शल, १, ३३)।

परवर्ती उत्खननो मे प्राप्त नमूनो के परीक्षण से भी कपास के अस्तित्व तथा साथ ही कुछ भीतरी छाल (बास्ट) के रेशो के उपयोग का सकेत मिला है (मैके, १९३८, १, पृ ५९२-९४)।

(ख) रेशम तथा पटसन

कपास तथा रेशम दोनो के नेवासा के ताम्रपाषाण स्तरो से, तथा पटसन का चडोली से प्राप्त होना प्रमाणित हो चुका है। इनका काल क्रमश १२०० व १३०० ई पू है (क्लटन-ब्रॉक तथा अन्य, १९६१, पृ ५५-५८ मे गुलाटी) और (देव तथा अन्सारी, १९६५, पृ १९५-२०१ में गुलाटी)।

(ग) कताई तथा बुनाई

कपास तथा पटसन के सूत तकलियो की सहायता से काते जाते थे, जिनके अनेक नमूने—चाहे साधारण, सपाट, छेद वाले डिस्क हो अथवा बडे अण्डाकार

या गोलाकार सुपारी जैसे खण्ड हो, दोनो मिट्टी के बने—सभी उत्खननों से मिले हैं। सिलाई की जानकारी बुर्जहोम में प्राप्त हड्डी की सुइयों तथा मोहेंजोदडो एव लोथल के अन्तर्गत उपलब्ध ताम्र-कास्य सुइयो से अभिप्रमाणित होती है।

ठ. कृषि

कृषि-कार्य कैसे होता था यह अभी तक अच्छी तरह ज्ञात नही है। मोहे-जोदड़ो के अन्तर्गत प्राप्त एक छोटी मृण्मय वस्तु को हल माना गया है।

सौभाग्यवश, कालीबगन मे १९६८-६९ के उत्खनन से प्राक्हड़प्पा-कालीन हल की लीक के चिन्ह टीला-१ और टीला-२ के बीच खुले मैदान मे प्रकाश मे आये हैं। श्री बी के थापर के सौजन्य से लेखक ने भी इन्हें देखा है। हल की लीको के अस्तित्व से यह आशय निकलता है कि हल का अस्तित्व अवश्य रहा होगा। बहुत सम्भव है कि यह लकडी का बनता होगा।

पत्थर की नौकाकार चक्कियो मे अन्न पीसा जाता था तथा सम्भवत आजकल की तरह लकडी की गहरी ऊखली मे लकडी के लम्बे मूसलो से कूटा जाता था। हडप्पा मे एक अन्न पीसने वाली चक्की पायी गयी है (व्हीलर, १९६८)। स्वभावत, जब अन्न व्यापक रूप मे उपजाया जाता था और राज्य द्वारा एकत्र किया जाता था, तो बडे-बडे हवादार छिद्रयुक्त अन्न-भण्डारो की आवश्यकता पडती थी। अब तक प्राप्त आद्तम अन्न-भण्डार हडप्पा, मोहेंजोदडो तथा लोथल मे मिले हैं।

ड. औषधि तथा शल्य चिकित्सा

मोहेजोदडो के अन्तर्गत शिलाजित्, साथ ही आर्सेनिक, मूगे, और हिरण तथा गेंडे के सीग के मिलने से इस विश्वास को बल मिला है कि ये वस्तुए, जो प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालो मे बलवर्धक औषधियो के रूप मे मान्य हो चुकी थी, सम्भवत प्रागैतिहासिक काल से अपने गुणो के लिए जानी जाती थी।

शल्य-चिकित्सा की जानकारी निश्चित रूप से थी। अब मोहेजोदडो से प्राप्त उत्कीर्ण चाकुओ के अतिरिक्त बुर्जहोम तथा कालीबगन से एक-एक छिद्रित मानव कपाल मिला है। कपाल मे ये छिद्र प्रस्तर ब्लेड से किये गये हो सकते हैं, जैसा कि पेरू व मैक्सिको मे प्रचलित था।

यह भी अनुमान किया जाता है कि आदिमानव तथा उसके उत्तरवर्तियो को प्रसूति-विज्ञान का कुछ (अनुभवसिद्ध) ज्ञान था।

निष्कर्ष

प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी के विषय मे जो थोड़ा-बहुत हम जानते हैं उसके सर्वेक्षण से मालूम होता है कि सभी दृष्टियो से, हडप्पा अथवा सिन्धु सभ्यता के अन्तर्गत प्रौद्योगिकी के विकास मे, पूर्व अवस्था से एकाएक तेजी आयी थी। यद्यपि इस सभ्यता का ८४,००० वर्गमील का बहुत बडा विस्तार था तथा इसकी लम्बी कालावधि पूर्व-मान्यता के अनुसार यदि १००० वर्षों तक नहीं, तो कम से कम ५०० वर्षों तक रही, फिर भी इस सभ्यता ने शेष भारत पर—प्रस्तर-ब्लेडो के बडे पैमाने पर उत्पादन तथा अकीक एव अन्य मनकों के सम्रित उद्योग को छोडकर—प्रौद्योगिकी की यहा समीक्षित लगभग प्रत्येक शाखा मे, बहुत कम प्रभाव छोडा।

दूसरे, स्वय इस सभ्यता ने, यद्यपि यह अन्यथा अत्यधिक विकसित थी, पश्चिम—सुमेर—की विकसित धात्विक प्रौद्योगिकी तथा साँकेटयुक्त कुठारो[1] एव तलवार जैसे उपकरणो को, जो वहां बहुत पहले से प्रचलित थे, नहीं अपनाया।[2]

तीसरे, लोहे तथा लौह प्रौद्योगिकी के विषय मे एक शब्द भी नही कहा गया है। इसका कारण यह है कि इस सम्बध मे, हस्तिनापुर (लाल, १९५४) के काल-२ से प्राप्त कुछ लौह पिण्डों को छोडकर हमारे पास कोई स्तरक्रम-वैज्ञानिक साक्ष्य नही है। अत्रजिखेडा से इसका मिलना बहुत महत्व रखता है, क्योकि यहा केवल बहुत सख्या मे उपकरण तथा आयुध ही नही मिले, बल्कि कदाचित भट्ठिया भी मिली है, जैसी कि उत्खनन-कर्ता ने साक्ष्य की व्याख्या की है। यदि ये मत्र स्तरक्रमवैज्ञानिक रूप से काल-१ अथवा २ के साबित किये

---

१ मात्र दो उदाहरणो, माहजादडो से प्राप्त एक तथा चन्हुदडो से उपलब्ध दूसरे कुठार-बसूला को छोडकर, हमारी वर्तमान जानकारी में इस तरह का कोई भी कुठार हडप्पा सभ्यता की उपज नही है। यद्यपि मैके के सकेतानुसार, हडप्पा सभ्यता के लोग इस विकसित उपकरण से परिचित थे जैसा कि बहुत निचले स्तरो से प्राप्त दो मृद्भाण्डो के नमूनो से मालूम होता है (मैके, १९३८, १, पृ ४८५, तथा १९४३, पृ १८८)।

२ राव (१९६२, पृ २४) न इस वक्तव्य पर प्रश्न उठाने का प्रयास करते हुए दर-असल इसका समर्थन ही किया है। विभिन्न प्रकार के बरमो से विकसित प्रौद्योगिकी का संकेत मिलता है, लेकिन धातु की ढलाई का नही।

जा सकते हैं तथा इनका काल १००० ई पू निर्धारित हो जाता है, तो लोहे को प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी के सर्वेक्षण में शामिल करना पड़ेगा।

लेकिन, यही काफी नही है। लोहे को यह "सम्मानित" स्थान मिलता है अथवा नहीं, यह सारहीन है। लौह-उपकरणो तथा आयुध-प्रौद्योगिकी का क्षेत्रवार अध्ययन करना तथा सम्बन्धित क्षेत्रो के सम्भावित स्रोतो से, जो बहुत है, उनका सम्बन्ध बतलाना अधिक महत्वपूर्ण है। केवल इसी से लौह-प्रौद्योगिकी की सच्ची जानकारी प्राप्त होगी। पहला कदम है, एक्स-रे रेडियोग्रैफी द्वारा आकारो को निश्चित करना। यह अक्षतिकारक पद्धति है जिससे लोहे के इन अन्यथा विकृत पिण्डो का कुछ अर्थ लग सकता है। इसके बाद सक्षम विद्वान विभिन्न क्षेत्रो से प्राप्त चुनी हुई वस्तुओ तथा अयस्कों का स्तरक्रमवैज्ञानिक, रासायनिक तथा धातुवैज्ञानिक विश्लेषण कर सकते हैं। दुर्भाग्यवश, संग्रहालयों के क्यूरेटर/निदेशक तथा अनेक उत्खननकर्ता सग्रहकर्ता वाले दृष्टिकोण से सोचते हैं जिससे अभी तक किसी लोहे की वस्तु की जाच के लिये स्वीकृति नहीं मिल पायी है। अब राष्ट्रीय प्रयोगशाला तथा भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के सहयोग से यह कार्य कठिन नही होना चाहिए। जब १००० से ४०० ई पू की लौह-वस्तुओ की पर्याप्त सख्या मे जाच हो जायेगी, तभी हम लोगो को मालूम होगा कि भारतीयो द्वारा बनाई गई लोहे/इस्पात की तलवारो की प्रशसा भारतीय इतिहास के आद्य-तम यूनानी लेखको ने किस कारण से की थी। क्या इनके लिए प्रेरणा ईरानियो से ग्रहण की गयी थी, जैसा कि व्हीलर का अनुमान है अथवा ये क्रमिक स्वदेशीय विकास का परिणाम थी?

नव-पाषाणयुगीन भूमि अथवा तत्कालीन भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त घिसे अथवा पालिश किये प्रस्तर-कुठारो के शैलवैज्ञानिक परीक्षण से ज्ञात होगा कि क्या कच्ची सामग्री सर्वत्र स्थानीय थी अथवा बहुधा ऐसे क्षेत्रो से, जहा उसका आधिक्य रहता था अथवा जहा वह सहज उपलब्ध थी, उसका आयात किया जाता था।

सिलखड़ी तथा फेएन्स के मनको का इसी प्रकार अध्ययन किया जा सकता है, परन्तु अग्रवाल तथा हेज द्वारा आद्यैतिहासिक सामग्री के एव भौमिक (१९६८) द्वारा ऐतिहासिक सामग्री के अध्ययन के जो प्रयास किये गये हैं, ताम्र तथा कास्य वस्तुओ के सम्बध मे उससे अधिक विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है।

मैं आशा करता हू कि इस सिंहावलोकन से हम लोग ठीक समय पर ठीक काम करने के लिए प्रेरित हो सकेंगे। तभी भारतीय प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी का अपेक्षाकृत उत्कृष्टतर विवरण लिखा जा सकेगा।

●

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अन्सारी, जेड डी तथा नागराज राव, एम एस, १९६४-६५, **एक्सकेवेशन एट सगनकल्लु** ।

अग्रवाल, डी पी, १९६८, **एन इंटीग्रल स्टडी आफ कापर-ब्रॉज टक्नालोजी इन दि लाइट आफ क्रानोलोजिकल एंड इकोलोजिकल फैक्टर्स (३००० ई पू-५०० ई पू)**, पी एच डी थीसिस, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

अग्रवाल, शीला, १९६९, रेडियो कार्बन डेट लिस्ट VI, **रेडियो कार्बन**, खंड-२, स १, पृ १८८-१९३, टाटा इंस्टीट्यूट आफ फण्डामेंटल रिसर्च ।

आलचिन, एफ आर, १९६०, **पिकलीहाल एक्सकेवेशन्स**, हैदराबाद ।

आलचिन, एफ आर, १९६२, अपोन दि एंटीक्विटी एंड मेथाडोलोजी आफ गोल्ड माइनिंग इन एंशियेंट इंडिया, **जरनल आफ इकानामिक एंड सोशल हिस्ट्री आफ दि ओरिएंट** ।

काडवेल, जे आर और शाहमीरजदी, १९६६, **तल-इ-इब्लिस**, स्प्रिंगफील्ड ।

कासाल, जे एम, १९६१, **फोइल्स दे मुण्डिगक, अफगानिस्तान**, पेरिस ।

कोघलन, एच एच १९५१, नेटिव कापर इन रिलेशन टू प्रिहिस्ट्री, **मैन**, खंड-५११, स १५६, फलक १०-३ ।

कृष्णदेव, १९६८, प्राब्लम आफ दि ऑकर कलर्ड पॉटरी, **पॉटरी सेमिनार**, पटना ।

फ्लाटन, ब्राक, जूलियट, विष्णु मित्रे और ए एन गुलाटी, १९६१ **टक्नीकल रिपोर्ट आन आर्केलोजिकल रिमेंस, पूना** ।

गॉर्डन, डी एच, १९५८, **प्रिहिस्टोरिक बैकग्राउंड आफ इंडियन कल्चर, बम्बई** ।

गुहा, जे पी, १९६७, **सील्स एंड स्टैट्युएट्स आफ कुली एटसेट्रा, नई दिल्ली** ।

दानी, ए एच, १९६०, **प्रिहिस्ट्री एंड प्रोटोहिस्ट्री आफ ईस्टर्न इंडिया** ।

दीक्षित, एम जी, १९४९, **इच्ड बीड्स इन इंडिया**, पूना ।

देव, एस बी तथा असारी, जेड डी, १९६५, **कैल्कोलिथिक चंडोली**, पृ १९५-२०१, पूना ।

देशपांडे, एम एन, १९६८, आर्किओलोजिकल सोर्सेज फार दि **रिकन्स्ट्रक्शन**

आफ दि हिस्ट्री आफ साइंसेज इन इंडिया, **सिम्पोजियम आन हिस्ट्री आफ साइंसेज इन इंडिया,** नई दिल्ली ।

नागराज राव तथा मल्होत्रा, १९६५, **स्टोन एज हिल-ड्वेलर्स आफ टेक्कल-कोटा,** पूना ।

फॉरबेस, आर टी, १९६४, **स्टडीज इन एंशियंट टेक्नोलोजी,** लीडन ।

बनर्जी, एन आर, १९६५, **दि आयरन एज इन इंडिया,** दिल्ली ।

बल्लभ सरन, १९६८, टेक्नोलोजी आफ दि पेंटेड ग्रे वेयर, **पॉटरी सेमिनार,** पटना (साइक्लोस्टाइल्ड प्रति) ।

बॉर्डेस, फ्रेक्वायस, **दि ओल्ड स्टोन एज,** वर्ल्ड यूनिवर्सिटी लायब्रेरी, लन्दन ।

भारद्वाज, एच सी, १९६८, सम टेक्निकल आब्जर्वेशन्स आन एनबीपी वेयर स्लिप, **पॉटरीज इन एंशियंट इंडिया,** १८८-१९१ ।

भौमिक, एस के, १९६८, **बुलेटिन, म्यूजियम एंड पिक्चर गैलरी, बड़ौदा,** पृ ९१-१०४ ।

मजूमदार, जी जी, १९६८, दि प्राब्लम आफ ब्लेक एंड रेड वेयर, **इंडियन मेंगलिथ सेमिनार,** बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

मार्शल, सर जान, १९३१, **मोहेंजोदड़ो एंड दि इंडस सिविलिजेशन** (३ खंडों में)।

मिश्र, वी एन, १९६८, पॉटरीज इन कौशाम्बी—१३०० ई पू-२०० ई पू, **पॉटरीज इन एंशियंट इंडिया,** पृ २०३-२२२ ।

मेहता, आर एन तथा चौधरी एस एन, १९६६, **एक्सकेवेशस एट देवनीमोरी, बड़ौदा** ।

मेकडोनेल, ए ए तथा कीथ, ए बी, १९१०, **वैदिक इंडेक्स आफ नेम्स एंड सब्जेक्ट्स** (२ खंडों में)।

मेके ई जे एच १९३८, फरदर एक्सकेवेशस एट मोहेंजोदड़ो, दिल्ली (दो खंडों में)।

मेके, ई जे एच, १९४३, **चहुदड़ो एक्सकेवेशस** १९३५-३६, न्यू हेवेन ।

राव, एम आर, १९६२, **फरदर एक्सकेवेशस एट लोथल,** ललित कला, स ११, पृ १४-३० ।

राव एस आर, १९६२, एक्सकेवेशस एट रंगपुर, **एंशियंट इंडिया,** स १८ १९ पृ ५-२०७ ।

राव एस आर, १९६४, लोथल एंड सूसा, **समरी आफ ट्वंटीसिक्स्थ इंटर-नेशनल कांग्रेस आफ ओरियंटलिस्ट्स,** नई दिल्ली, पृ १०-११ ।

लम्बर्ग-कार्लोव्स्की, सी सी, १९६७, आर्किओलोजी एंड मेटलर्जीकल टेक्नो-लोजी इन प्रिहिस्टोरिक अफगानिस्तान, इंडिया एंड पाकिस्तान, **अमेरि-कन एंथ्रोपोलोजिस्ट** ६९, पृ १४५ ।

लाल, बी बी, १९५४-५५, **एक्सकेवेशस एट हस्तिनापुर, एंशियंट इंडिया**, स X-XI ।

लाल, बी बी, १९६८, जियोक्रोनोलोजिकल इन्वेस्टिगेशन्स आफ दि ऑकर-कलर्ड पॉटरी, **पॉटरी सेमिनार**, पटना ।

लाल, बी बी, तथा थापर, बी के, १९६७, एक्सकेवेशस एट कालीबगन, **कल्चरल फोरम**, जुलाई, पृ ७९-८८ ।

वत्स, माधो सरूप, १९४०, **एक्सकेवेशस एट हड़प्पा**, दिल्ली ।

वाल्टर, ए फेयरसर्विस, १९५६, **एक्सकेवेशस एट क्वेटा वेली, वेस्ट पाकिस्तान**, खड ५४, भाग-२, एंथ्रोपोलोजिकल पेपर्स आफ दि अमेरिकन म्यूजियम आफ नेचुरल हिस्ट्री, न्यूयार्क ।

वेस्टनडॉर्फ, वाल्फहार्ट (सम्पादित), १९६६, **एडविन स्मिथ पैपिरस**, बर्न और स्टुटगार्ट ।

व्हीलर, सर मार्टिमर १९६६, **सिविलिजेशन आफ दि इडस वेली एड बियोंड**, पृ ११३ ।

व्हीलर, सर मार्टिमर, १९६८, **दि इन्डस सिविलिजेशन**, कैम्ब्रिज ।

शर्मा, आर के, १९६७, पेन्टेड पॉटरी फ्राम पुसलघाड़, एटसेट्रा, **इडिका**, बम्बई, खड-४, सितम्बर १९६७, पृ ७५-९४ ।

सकालिया एच डी तथा देव, एस बी, १९५५ **एक्सकेवेशस एट नासिक एड जोर्वे**, पूना ।

सकालिया, एच डी, सुब्बाराव, बी तथा देव, एस बी, १९५८, **एक्सकेवेशस एट माहेश्वर एड नवदाटोली**, पूना बडौदा ।

सकालिया, एच डी, देव, एस बी और अन्सारी जेड डी, १९६०, **फ्राम हिस्ट्री टू प्रिहिस्ट्री एट नेवासा**, पूना ।

सकालिया, एच डी, १९६४, **स्टोन एज टूल्स, देयर टेक्नीक्स एड प्रोबेबल फक्शस**, पूना ।

सकालिया, एच डी १९६५ **एक्सकेवेशस एट लघनाज**, भाग-१, पूना ।

सकालिया एच डी १९६८, बिगनिग आफ सिविलिजेशस इन साउथ इडिया **साइस टुडे**, अप्रैल ।

सकालिया, एच डी, १९६९, अर्ली मैन इन आइस एज कश्मीर **साइस टुडे**, नवम्बर ।

सकालिया एच डी, देव एस बी और असारी जेड डी १९६९, **दि एक्सकेवेशस एट अहाड**, पूना ।

सकालिया एच डी देव, एस बी असारी, जेड डी १९७०-७१ **एक्सकेवेशस एट नवदाटोली** ।

सना उल्ला १९३४-३५, **एनुअल रिपोर्ट, आर्किओलोजिकल सर्वे आफ इडिया** ।

सारटों, जार्ज, १९५१, **ए हिस्ट्री आफ साइंस इन इंडिया** ।

सिंगर, सी, हॉल्मयार्ड, जे तथा हाल, एच आर, १९५६, **हिस्ट्री आफ टेक्नोलोजी**, खड-१, आक्सफोर्ड (तृतीय मुद्रण)।

सिन्हा, बी पी, १९६८, सम प्राब्लम्स इन एंशियेंट इंडियन पॉटरीज, **पॉटरीज इन एंशियेंट इंडिया**, पृ १-१४ ।

सिन्हा, बी पी, १९६९, **पॉटरीज इन इंडिया**, पटना ।

स्क्रेडर, ओ, १९१२-२३ तथा नेहरिंग, ए, १९२९, रियलेक्सिकॉन दर इन्डोजर्मनिस्चेन अल्तेरतुम्सकुन्दे (२ खडों में)।

स्मिथ, वी ए, १९०५, **इंडियन एन्टीक्वेरी**, खड-३६, पृ ५३ ।

हार्नेल, जेम्स, १९१८, दि चक बैंगल इण्डस्ट्री, **मैमोयर, एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल**, खड-३, स ७, पृ ४०७-४८ ।

हेज, के के, १९६५, **टैक्नीकल स्टडीज इन कॉल्कोलिथिक पीरियड कॉपर मैटलर्जी**, पी एच डी थीसिस, एम एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा ।

हेज, के के, १९६६, टैक्नीकल स्टडीज इन एनबीपी वेयर, **करेंट साइंस** ।

हेम्मी, ए एस, १९३९, **सिस्टम आफ वेट्स** । देखें मैके, इ जे एच, **एक्सकेवेशस एट मोहेंजोदड़ो**, पृ ६००-६१२ ।

अनुक्रमणिका

●